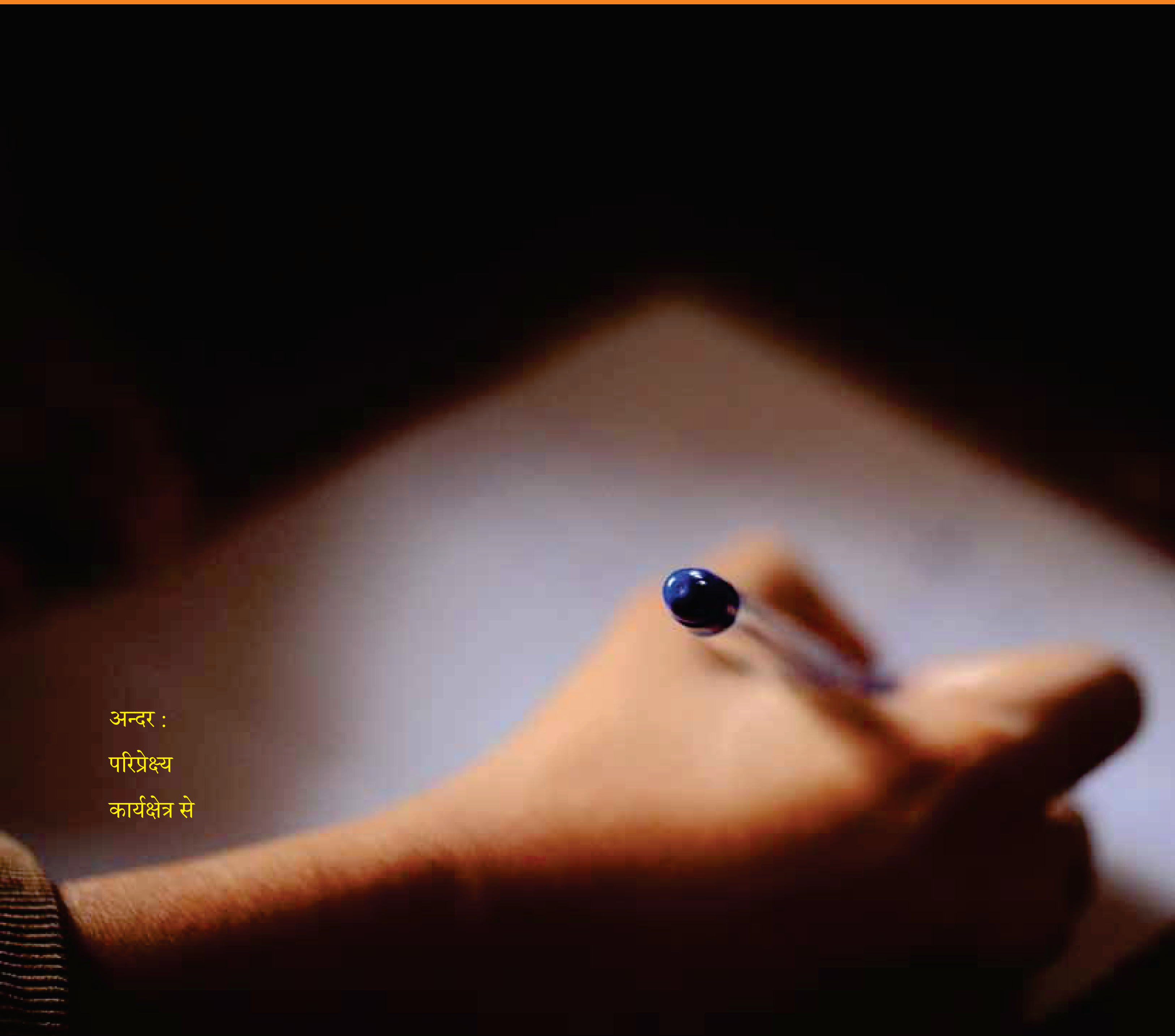
हिन्दी अंक 15 : नवम्बर, 2019
चौ-मासिक : बेंगलूरु

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी

लर्निंग कर्व

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन



अन्दर :

परिप्रेक्ष्य

कार्यक्षेत्र से

शिक्षा नीतियाँ और उनका अमल

सम्पादकीय कार्यालय

सम्पादक
अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी लर्निंग कर्व
अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, पिक्सल पार्क बी ब्लॉक
पी.ई.एस. कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग कैम्पस,
इलेक्ट्रॉनिक सिटी, बेंगलूरु 560 100
Phone: 080-66145136 / 5272
Fax: 080-66145230
Email: publications@apu.edu.in
Website: www.azimpremjiuniversity.edu.in

''अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी लर्निंग कर्व अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का एक प्रकाशन है। इसका उद्देश्य शिक्षकों, शिक्षक-अध्यापकों, स्कूल प्रमुख, शिक्षा अधिकारियों, अभिभावकों और गैर-सरकारी संगठनों तक ऐसे प्रासंगिक और विषयगत मुद्दों में पहुँच बनाना है जो उनके रोजमर्रा के काम से सम्बन्धित हैं। अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी लर्निंग कर्व शैक्षिक जगत के विभिन्न दृष्टिकोणों, अभिव्यक्तियों, परिप्रेक्ष्यों, नई जानकारियों और नवाचार की कहानियाँ प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान करता है। इसका मूल विचार 'शैक्षणिक' और 'अभ्यासकर्ता' के मध्य सन्तुलन हेतु उन्मुख पत्रिका के रूप में स्थापित होना है।''

सम्पादक की ओर से



प्रत्येक देश अपने नागरिकों के कल्याण के लिए अपने खुद के लक्ष्य और आकांक्षाएँ निर्धारित करता है जो उसकी शिक्षा और स्वास्थ्य की नीतियों में महत्वपूर्ण रूप से व्यक्त होती हैं। विशेष रूप से शिक्षा सम्बन्धी नीतियाँ प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति और देशवासियों की आकांक्षाओं को ध्यान में रखती हैं और उन पर आधारित होती हैं। स्वतंत्रता प्राप्त होने पर भारत को ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली विरासत में मिली जो बहुत सन्तोषजनक नहीं थी। अँग्रेजों ने अपने उपनिवेशों, विशेष रूप से भारत, के लिए शैक्षिक नीतियाँ तैयार कीं ताकि एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण हो जो बाबुओं या क्लर्कों का राष्ट्र हो ताकि उनका अपना राजनीतिक एजेंडा आगे बढ़े।

1947 के बाद नीति निर्माताओं को सबसे पहले भारतीय समाज में व्याप्त जाति, वर्ग और लिंग द्वारा उत्पन्न बड़ी विसंगतियों का सामना करना पड़ा था। देश को इन बंधनों से मुक्त कराने और भविष्य में आगे बढ़ने के लिए नई शिक्षा नीतियाँ लागू करना जरूरी था। देश को इस बात का स्पष्ट एहसास था जो उसे एक व्यापक ढाँचे के तार्किक कदम के साथ अगले चरण में ले गया। विचार यह था कि हमारे संविधान में समर्थित मूल विचारों पर आधारित यह ढाँचा नए भारत के लिए विशेष रूप से बनाई गई शिक्षा प्रणाली की नींव रखेगा। यह नीति सभी के लिए शिक्षा को एक ऐसा अधिकार बनाएगी जिसे लागू किया जाए। ऐसा करने के लिए कई और जटिल मुद्दों का सामना करना था। वास्तव में सबसे अधिक प्रसंगोचित परिवर्तन क्या थे? क्या इसे हासिल करने के लिए एक समय सीमा होनी चाहिए? एक ऐसे भविष्य की कल्पना करना जो निश्चित रूप से एकदम अलग हो। और ऐसे भविष्य की ओर विविध लोगों वाले इस विशाल देश का मार्गदर्शन करने के लिए जमीनी स्तर पर बदलाव की आवश्यकता थी। सामान्य रूप से समाज की गतिशील प्रकृति और तेज रफ्तार से बदलती हुई दुनिया के कारण सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक के हर पहलू में बदलाव लाजमी था। इसलिए 1968 से राष्ट्रीय शिक्षा नीति में परिवर्तन होते रहे हैं। 1986 व 1992 के परिवर्तन के बाद अब 2016 में एक मसौदा नीति सामने आई है।

शिक्षा समवर्ती सूची में चली गई और नीतियों में यह बताया गया कि राज्यों को किन बातों का अनुसरण करना चाहिए लेकिन यह अनिवार्य नहीं था। निरन्तर परिवर्तनशील समाज और साथ ही उसके राजनीतिक घोषणापत्रों के साथ अनुरूपता बनाए रखने के कारण ये नीतियाँ स्थायी विरासत में फलित हुईं। उदाहरण के लिए पहले 11वीं कक्षा की स्कूली शिक्षा पूरी करके कॉलेज में एक साल का प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स करने के बाद तीन साल के लिए स्नातक कोर्स की पढ़ाई की जाती थी। बाद में इसके स्थान पर +2 और उसके बाद तीन साल की स्नातक शिक्षा करने की बात आई। कुछ राज्यों में त्रिभाषा नीति का प्रस्ताव रखा गया और उसका पालन किया गया, लेकिन सब राज्यों में ऐसा नहीं हुआ। तकनीकी उन्नति के प्रणेता के रूप में विज्ञान और गणित पर जोर दिया गया।

जब दुनिया ने नई सहस्राब्दी में प्रवेश किया तो और भी परिवर्तन नजर आए। शिक्षा के सार्वभौमिकरण पर जोर दिया गया। दूरगामी पहुँच के उद्देश्य को पाने के लिए कई नई योजनाएँ शुरू की गईं जैसे सर्व शिक्षा अभियान (एस.एस.ए.), मध्याह्न भोजन योजना (एम.डी.एम), नो डिटेंशन पॉलिसी (बच्चों को फेल न करना), निरन्तर और व्यापक मूल्यांकन (सी.सी.ए.) और शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) ताकि अन्तराल पाटे जा सकें।

इस बात की अपेक्षा की जाती है कि जब भी कोई नीति प्रस्तुत की जाए तो वह अपने केन्द्रीय लक्ष्यों को संरक्षित करते हुए दिन-प्रतिदिन की माँगों को ध्यान में रखेगी। यह मान लिया जाता है कि गहरे और गम्भीर विचार, चिन्तन और मुद्दों को समझने के बाद तथा इसकी सिफारिशों के सम्भावित परिणामों को ध्यान में रखते हुए ये नीतियाँ बनाई गई हैं। यहाँ पर हम यह बताना चाहेंगे कि इस अंक के तैयार होने तक एक नई समिति की स्थापना की गई है। आशा है कि इस अंक में दिए गए लेख पिछली सिफारिशों की पृष्ठभूमि के आधार पर नई समिति हेतु विचार-विमर्श में सहायक हो सकेंगे।

संक्षेप में, राष्ट्रीय शैक्षिक नीतियाँ भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं की स्पष्ट समझ का नतीजा हैं (या कम से कम उन्हें ऐसा होना चाहिए)। साथ ही उनमें एक ऐसी प्रणाली शुरू करने की स्पष्टता होती है जो हमारे संविधान में निहित लक्ष्यों से मेल खाती हैं और प्रबुद्ध नागरिकों के लोकतांत्रिक समाज के निर्माण के उद्देश्य को स्वीकारती हैं। तब हम आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने वाले कौशल प्राप्त करने के साथ-साथ एक अच्छे मानवीय जीवन की अपेक्षा कर सकते हैं जो न्यायपूर्ण हो और सभी को बुनियादी क्षमताएँ प्राप्त करा सके।

इस अंक में जो लेख हैं, वे 1968 से बनी शिक्षा नीतियों का परीक्षण करते हैं जो यह इस अंक के लिए चुना गया प्रारम्भिक बिन्दु था। 2016 की मसौदा नीति के साथ-साथ उस तरीके की भी बारीकी से जाँच की गई है जिस तरीके से भाषा और साक्षरता को सम्बोधित किया गया है। दो फोकस लेखों ने शैक्षिक नीतियों की सिफारिशों के पहलुओं की जाँच की है तो एक अन्य लेख ने शैक्षिक नीति दस्तावेजों के इतिहास की। कुछ अन्य लेख विशिष्ट पहलुओं जैसे सी.सी.ए. और एम.डी.एम. के बारे में हैं। यह केवल एक नमूना है और हम आशा करते हैं कि पाठकों को यह अंक दिलचस्प लगेगा। हमें आपके फीडबैक की प्रतीक्षा रहेगी।

प्रेमा रघुनाथ
सम्पादक, लर्निंग कर्व
prema.raghunath@azimpremjifoundation.org
अनुवाद : नलिनी रावल



इस अंक में

खण्ड क

परिप्रेक्ष्य



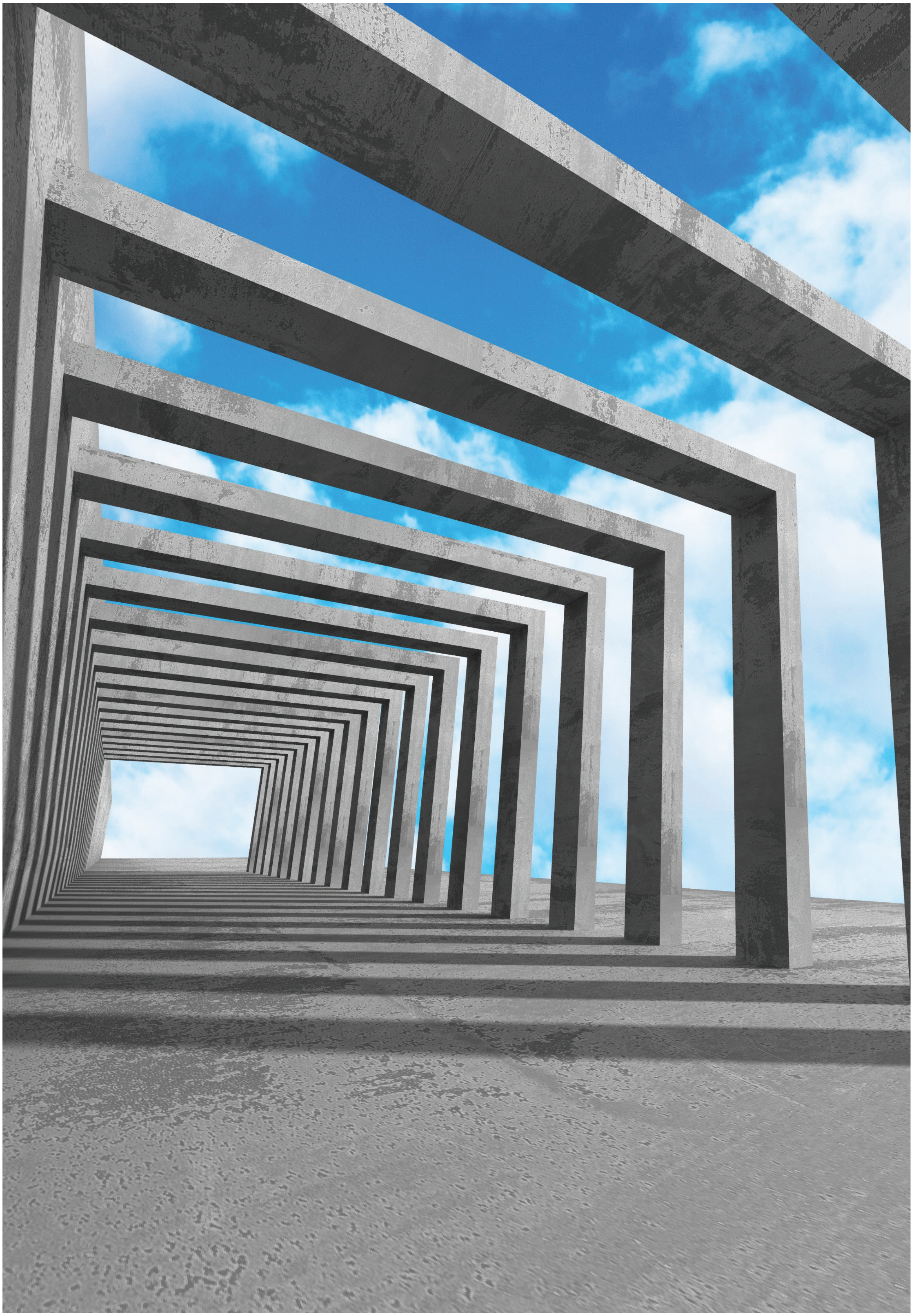
इस अंक में

खण्ड ख

कार्य क्षेत्र से

खण्ड क

परिप्रेक्ष्य





नई सहस्राब्दी में नीतिगत पहल

बी. एस. ऋषिकेश

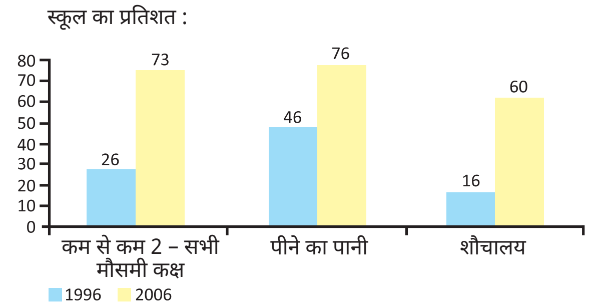
भारत में शिक्षा के क्षेत्र में आधी शताब्दी तक जो नहीं हुआ, वह नई सहस्राब्दी में होने लगा। देश में शिक्षा के क्षेत्र में नीतिगत पहलों की एक शृंखला देखने में आई, लेकिन यह भी सच है कि उनके पीछे कई दशकों का कार्य, लोगों के आन्दोलन और न्यायिक सक्रियता थी।

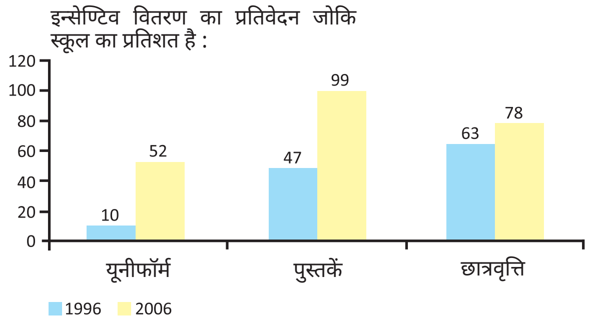
नई सहस्राब्दी की नीतिगत पहलों जैसे सर्व शिक्षा अभियान (एस.एस.ए.) मध्याह्न भोजन कार्यक्रम (एम.डी.एम.) राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ. 2000 और 2005), शिक्षक शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ. टी.ई. 2009) के साथ-साथ न्यायमूर्ति वर्मा आयोग की सिफारिशों पर आधारित शिक्षक शिक्षा के लिए नए दिशानिर्देश और शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) जैसी नीतियों ने भारत में विद्यालय शिक्षा को पुनर्जीवित किया। नई सहस्राब्दी में भारत में विद्यालय शिक्षा के कई क्षेत्रों में नया मोड़ आया - न केवल कई नए कार्यक्रमों और योजनाओं का शुभारम्भ हुआ वरन आवश्यक कानूनों के साथ उनका क्रियान्वयन भी हुआ जबकि पिछले दशकों में कई बातें नीति के दस्तावेजों के रूप में कागज पर ही रह गई थीं या उन्हें लागू करने की कोशिशें असफल रही थीं।

ऊपर बताई गई नीतिगत पहलों में वित्तीय संसाधनों के साथ कार्य योजनाएँ बनाई गईं और कई मामलों में तो उच्चतम न्यायालय ने सरकार को निर्देश भी दिए। पिछले दशकों में ऐसा नहीं हुआ था। आमतौर पर जिस तरह से नीतियों को लागू किया जाता है, यदि उस दृष्टि से देखें तो हमें काफी अन्तर नजर आएगा क्योंकि न तो इन नीतियों के मूल विचार कमजोर हुए और न ही उनके निष्पादन में इतनी देरी हुई कि वे निरर्थक हो जाएँ। शायद यह लेख पूरी कहानी न बता पाए और न ही इस बात का विश्लेषण कर पाए कि 2000 के बाद जो कुछ हुआ वह क्यों हुआ। इस लेख में तो एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया जाएगा, एक पृष्ठभूमि प्रदान करने का प्रयास किया जाएगा और साथ में इन पहलों की उन प्रमुख विशेषताओं को बताया जाएगा जिनकी वजह से हमारी शिक्षा का स्वरूप बेहतर हुआ; और इससे पाठकगण उन कारकों को पहचानने में सक्षम हो सकते हैं जिन्होंने जमीनी स्तर पर कार्य को अंजाम दिया, जबकि इसके पहले नीतिगत विचारों को फाइलों और मेजों से जमीनी स्तर पर लाना एक कठिन संघर्ष हुआ करता था।

सर्व शिक्षा अभियान (एस.एस.ए.)

तमाम पहलों के बीच आर.टी.ई. के साथ एस.एस.ए. बेहद लोकप्रिय पहल है। इसकी लोकप्रियता के कई कारण हैं जैसे इसकी नवीनता, इसका बड़ा जनादेश और इसे प्राप्त विशाल धन-राशि जिसने समानान्तर प्रशासनिक ढाँचे को भी सक्षम किया और इन सबके साथ इसका समग्र प्रभाव। 2001 में जबसे यह कार्यक्रम शुरू हुआ, तभी से केन्द्र सरकार द्वारा घोषित हर वार्षिक बजट में हजारों करोड़ रुपए एस.एस.ए. को आवंटित किए गए हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है इसे एक ऐसे आन्दोलन के रूप में देखा गया जो सभी के लिए शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करता है। उस समय के कुछ प्रमुख शिक्षा संकेतकों के आँकड़ों को देखें तो पता चलता है कि हमारे कुछ बुनियादी संकेतक नुक्ता निकालना है थे - स्कूल में बच्चों की संख्या, पक्की इमारत और शौचालय वाले स्कूलों की संख्या, स्कूलों में शिक्षकों की संख्या आदि अपेक्षित लक्ष्य से कहीं दूर थे।





स्रोत : स्कूल सर्वेक्षण, प्रोब, 1996 तथा पुनरीक्षित प्रोब 2006 (एस.एस.ए.,परिवर्तन के लिए बजटिंग शृंखला 2011, सी.बी.जी.ए. नई दिल्ली, यूनिसेफ इंडिया से प्राप्त ग्राफ), दिसम्बर 2011

सर्व शिक्षा अभियान का फोकस हालाँकि नामांकन था क्योंकि इसका प्रमुख लक्ष्य प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण (यू.ई.ई.) था। लेकिन इसने अपर्याप्त नामांकन के मूल कारणों (जैसे बुनियादी सुविधाओं की कमी, शिक्षक और अन्य संसाधन जैसे वर्दी, पाठ्यपुस्तक तथा छात्रवृत्ति) में सुधार करने की दिशा में काम नहीं किया। वास्तव में कक्षाओं और शौचालयों के निर्माण (विशेष रूप से लड़कियों के लिए) पर ध्यान देने से नामांकन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा, खासतौर से लड़कियों के नामांकन पर। नामांकन की प्रगति स्पष्ट रूप से इस कारक पर कार्यक्रम के तत्काल प्रभाव को दर्शाती है, जो दशक के अन्त तक धीरे-धीरे कम होने लगा - और यह वास्तव में एस.एस.ए. की समाप्ति की तारीख थी (यह निर्णीत होने के पहले कि यह योजना आगे बढ़ाई जाएगी)। एस.एस.ए. की शुरुआत से 2014 तक लड़कियों के सकल नामांकन में 25 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई!! इन सुधारों में बुनियादी ढाँचे का बहुत बड़ा हाथ था - 2001-02 में जब एस.एस.ए. शुरू हुआ तब 1,73,757 बस्तियों में प्राथमिक स्कूल नहीं थे। आगे के वर्षों में 2, 04, 686 स्कूलों को मंजूरी दी गई। किन्तु यह तथ्य कि वर्ष 2014-15 में 347 को मंजूरी दी गई, इस बात का संकेत देता है कि डेढ़ दशकों के बाद भी कुछ अन्तर हैं, लेकिन इस आश्चर्यजनक संख्या से हमें नई सहस्राब्दी में देश की न्यूनताओं को समझने में सहायता मिलती है। 2002 में उच्च प्राथमिक स्तर पर 2,30,941 बस्तियाँ ऐसी थीं जहाँ उच्च प्राथमिक स्कूल नहीं थे। अगले वर्षों में तीन किलोमीटर के दायरे में 1,59,427 उच्च प्राथमिक स्कूलों को मंजूरी दी गई।

एस.एस.ए. के मूल लक्ष्य इस प्रकार थे : शिक्षा में लिंगभेद और सामाजिक अन्तर को दूर करना, शिक्षा तक सर्वव्यापी पहुँच, बच्चों का स्कूल में टिकना और अधिगम की गुणवत्ता में सुधार। इसके लिए कई योजनाएँ बनाई गईं और निष्पादित की गईं। इस पहल को विश्व बैंक, डी.एफ.आई.डी. व यूनिसेफ की सहायता के साथ में प्रशासन की मदद भी मिली, जिससे हमारी प्रणाली को परेशान करने वाले कुछ बुनियादी मुद्दों से निपटने के प्रयत्न कर पाना सम्भव हुआ। स्कूल में शौचालयों की बात करें तो हालाँकि वर्तमान में लगभग दो लाख विद्यालयों में शौचालय नहीं हैं, किन्तु एस.एस.ए. के तहत लगभग दस लाख शौचालयों को मंजूरी दी गई है (जैसा कि हम ग्राफ में देखते हैं, 2006 में केवल 60% स्कूलों में शौचालय बने, शुरुआती संख्या 20% से कम थी), और कई शोध अध्ययनों के अनुसार इसने छात्राओं को स्कूल में टिकाए रखने में बहुत बड़ा योगदान दिया। एस.एस.ए. के प्रभाव का आकलन बताएगा कि इसने हमारे स्कूल के बुनियादी ढाँचे को जबर्दस्त बढ़ावा दिया है और इस तरह छात्र व छात्राओं दोनों के नामांकन में सौ प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई है। अधिगम के संकेतक अभी अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुँच पाए हैं, लेकिन उसके लिए नीति के स्तर पर कुछ और मूलभूत कार्य करने की आवश्यकता है जैसे शिक्षक शिक्षा में सुधार करना, जो शुरू तो हो गया है, लेकिन अभी बहुत कुछ करना बाकी है। दशक के अन्त तक आते-आते राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (आर. एम.एस.ए.) की ओर ध्यान दिया जाने लगा है, जिसका लक्ष्य माध्यमिक शिक्षा के लिए वही सब करना है जो एस.एस.ए. ने प्राथमिक शिक्षा के लिए किया। भले ही फोकस आर.एम.

योजना/स्कीम	12वीं पंचवर्षीय योजना लागत	केन्द्रीय बजट आवंटन (करोड़ रुपयों में)			12वीं योजना की अवधि के लिए केन्द्रीय बजट आवंटन (करोड़ रुपयों में)	लागत का %
		2012-13 (वास्तविक)	2013-14 (RE)	2014-15 (BE)		
सर्वशिक्षा अभियान	192726	23873	26608	28258	78739	40.9
मध्यान्ह भोजन	90155	10849	12189	13215	36253	40.2
राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान	27466	3172	3123	5000	11295	41.1

स्रोत: टेड टर्न होने पर; केन्द्रीय बजट सत्र 2014-15, सीबीजीए नई दिल्ली, जुलाई 2014 के जवाब में

एस.ए. की ओर चला गया हो, लेकिन एस.एस.ए. का काम भी चालू है क्योंकि इस कार्यक्रम के पीछे नीति के सिद्धान्त ये हैं कि दीर्घकालिक गुणवत्ता बढ़ाई जानी चाहिए।

मध्याह्न भोजन (एम.डी.एम.)

नई सहस्राब्दी की अगली नीतिगत पहल है एम.डी.एम. कार्यक्रम जैसा कि हम बजटीय आवंटन में देख सकते हैं, यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसे बहुत अच्छी धनराशि मिली है। अधिकांश राज्यों में, शिक्षक वेतन के बाद एम.डी.एम. दूसरा सबसे बड़ा बजटीय आवंटन है। यद्यपि 1920 के दशक की शुरुआत में ही भोजन-कार्यक्रम शुरू हो गया था, पहले मद्रास (अब चेन्नई) निगम में और फिर के 1950 मध्य तक कोलकाता और कई अन्य राज्यों में। यह कार्यक्रम देश भर के चयनित ब्लॉकों में पोषण कार्यक्रम के रूप में 90 के दशक के मध्य तक बड़े पैमाने पर शुरू हुआ। प्राथमिक शिक्षा के लिए पोषण सम्बन्धी सहायता के लिए शुरू किया गया राष्ट्रीय कार्यक्रम (एन.पी.-एन.एस.पी.ई.) जल्द ही सभी ब्लॉकों तक पहुँच गया। पर नवम्बर 2001 में उच्चतम न्यायालय के अन्तरिम आदेश के बाद 'पके हुए भोजन का कार्यक्रम' शुरू हुआ जिसका वर्तमान रूप एम.डी.एम. है। सुप्रीम कोर्ट के अन्तरिम आदेश से निर्धनों के लिए आठ खाद्य सुरक्षा योजनाओं को अधिकार का दर्जा प्राप्त हुआ - इनमें अन्त्योदय अन्न योजना, राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना, समेकित बाल विकास सेवा (आई.सी.डी.एस.) कार्यक्रम, अन्नपूर्णा योजना और काम के लिए भोजन देने वाली कई रोजगार योजनाएँ और राष्ट्रीय मध्याह्न कार्यक्रम (एन.एम.एम.पी.) शामिल हैं। वैसे तो न्यायालय ने इसके क्रियान्वयन को देखने के लिए मई 2002 में दो आयोग नियुक्त किए, लेकिन राशि की कमी के कारण कई राज्यों में यह कार्यक्रम लागू नहीं हुआ। तब 2003 में योजना आयोग ने दूसरी योजनाओं से कम से कम 15% आवंटित राशि लेकर इस स्थिति को सुधारने की कोशिश की। अन्त में 2004 में केन्द्र सरकार ने सभी राज्यों को पर्याप्त धन देने का आश्वासन दिया। और इस प्रकार शुरू हुआ संसार का सबसे बड़ा भोजन-कार्यक्रम जो लगभग दस लाख स्कूलों में चल रहा है, दस करोड़ बच्चों को भोजन मुहैया करा रहा है और एक दशक से अधिक समय से जारी है।

इस कार्यक्रम के कई उद्देश्य थे - स्कूल में बच्चों के नामांकन और टिकाव पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ उनके पोषण में सुधार करना और इस प्रकार एक बार फिर से प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के नीतिगत लक्ष्यों के साथ जुड़ना। शोध अध्ययनों से यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि इसका कितना अद्भुत प्रभाव हुआ है और निर्दिष्ट उद्देश्य पूरे किए गए हैं। इससे न केवल नामांकन में वृद्धि हुई बल्कि उपस्थिति में भी सुधार हुआ। अध्ययन से इस बात के संकेत भी मिलते हैं कि एम.डी.एम.और बेहतर अधिगम के बीच सकारात्मक सहसम्बन्ध है : यह पौषणिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक सहसम्बन्धों से बढ़कर है। वास्तव में यह एक मर्मस्पर्शी बात है कि एम.डी.एम. ने हमारे देश में कई बच्चों को दिन भर में उनको मिलने वाला एकमात्र भोजन प्रदान किया है!

एम.डी.एम. के तहत प्रतिदिन प्रत्येक बच्चे का पात्रता मानदण्ड

मद	प्राथमिक (कक्षा एक से पाँच तक)	उच्च प्राथमिक (कक्षा एक से छह से आठ तक)
कैलोरी	450	700
प्रोटीन (ग्राम में)	12	20
चावल/गेहूँ (ग्राम में)	100	150
दाल (ग्राम में)	20	30
तरकारी (ग्राम में)	50	75
तेल और वसा (ग्राम में)	5	7.5

Source: MHRD: Mid-Day Meal Scheme; http://mdm.nic.in/

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ.)

2005 में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा जारी की गई। इसमें 2000 के एन.सी.एफ. का संशोधन और सुधार किया गया था। शिक्षा की गुणवत्ता की सुधार की दिशा में यह एक और महत्वपूर्ण कदम था। यह केवल एक रूपरेखा थी, लेकिन इसमें शिक्षा से सम्बन्धित सभी पहलुओं जैसे पाठ्यक्रम से लेकर

पाठ्यविषयेतर बातों पर चर्चा की गई है। एन.सी.एफ. 2005 के लिए इक्कीस फोकस समूहों से प्राप्त इक्कीस आधार पत्रों से इनपुट लिए गए। हर आधार पत्र बताता है कि शिक्षा के नाम पर क्या किया जाना चाहिए, फिर चाहे वह गणित हो या चित्रकला। ये वर्षों की नीति अभिधारणा से उभरा और एक ऐसा दस्तावेज बना जो चीजों को जमीनी स्तर के निकट ले गया क्योंकि इसी के कारण एक उपयुक्त पाठ्यक्रम बना। सच पूछा जाए तो एन.सी.एफ. ने नीति में कही गई बातों और पाठ्यक्रम के माध्यम से कक्षा में जो किया जाना अपेक्षित है - इन दोनों के बीच में पुल का काम किया। इसके पहले तक नीति दस्तावेजों में जो कुछ कहा गया और जैसा पाठ्यक्रम बना, उनमें तालमेल नहीं था। इस रूपरेखा ने केन्द्रीय पाठ्यक्रम को इस तरह का बनाने में मदद की कि जिसमें शिक्षा प्राप्त करने की प्रक्रिया में बाल-स्नेही और पूर्णतावादी दृष्टिकोण का ध्यान रखा गया हो।

एन.सी.एफ. 2005 के मुख्य विचार हमारे पहले के नीति दस्तावेजों के शैक्षिक विचारों पर आधारित हैं। इस रूपरेखा के पाँच भाग हैं और सभी बहुत महत्वपूर्ण हैं। ‘पाठ्यचर्या की रूपरेखा का परिप्रेक्ष्य’ से शुरू होकर यह मनुष्यों में ‘सीखने और ज्ञान के अधिग्रहण’ में निहित विचारों पर बात करती है और फिर ‘पाठ्यचर्या के क्षेत्र, स्कूल की अवस्थाएँ और आकलन’ पर विशद जानकारी देती है। इसके बाद ‘स्कूल एवं कक्षा का वातावरण’ पर फोकस किया गया है और अन्त में ‘व्यवस्थागत सुधार’ पर चर्चा की गई है।

- अधिगम की रटन्त प्रणाली को बदलना
- बच्चों के चहुँमुखी विकास को सुनिश्चित करना
- कक्षा अधिगम के साथ ही परीक्षा को अपेक्षाकृत अधिक लचीला बनाना और कक्षा की गतिविधियों से जोड़ना
- भारत की लोकतांत्रिक नीति के भीतर राष्ट्रीय चिन्ताओं को पहचानना और उन्हें पोषित करना।
- एक ऐसी अधिभावी (over-riding) पहचान के विकास का पोषण करना जिसमें प्रजातांत्रिक राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय चिन्ताएँ समाहित हों।

वैसे तो एन.सी.एफ. सभी स्कूलों पर लागू होता है, क्योंकि अधिकांश स्कूल राज्य बोर्ड पर ही आधारित होते हैं । लेकिन बहुत कम राज्यों ने इसका उपयोग किया है। कुछ ही राज्यों ने इसके आधार पर अपने राज्य के लिए पाठ्यचर्या का निमार्ण किया है, ताकि उसका उपयोग उपयुक्त पाठ्यक्रम बनाने के लिए किया जा सके। पर जब आर.टी.ई. ने यह बात अनिवार्य कर दी कि प्रत्येक राज्य एन.सी.एफ. के आधार पर अपने राज्य की रूपरेखा खुद बनाएँ, तब स्थिति बदली है। इससे विभिन्न सरकारी नीतियों के अन्तःसम्बन्ध और समान नीति आदर्श से जुड़ी नीतिगत पहल का पता चलता है।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.)

देश में शिक्षा के क्षेत्र में जो पहल हुई हैं उनमें आर.टी.ई. अग्रणी और पथप्रवर्तक है। सोने पे सुहागा वाली बात यह कि यह पहल नई सहस्राब्दी के प्रथम दशक के अन्त में शुरू हुई जब नीति स्तर की कई पहल सामने आईं। 2000 में डाकार के शिक्षा फोरम में जो देश मौजूद थे, उनकी सबको शिक्षा मुहैया कराने की सामूहिक प्रतिबद्धता के आधार पर डाकार फ्रेमवर्क फॉर एक्शन उभर कर सामने आया। दो साल बाद, दिसम्बर 2002 में, भारतीय संसद ने संविधान का 86वाँ संशोधन पारित किया, जिसमें मौलिक अधिकारों की सूची में अनुच्छेद 21ए को सम्मिलित करके निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के प्रावधान को अनिवार्य बनाया : ‘प्रत्येक राज्य 6-14 आयु समूह के सभी बच्चों को राज्य द्वारा तय किए गए कानून के मुताबिक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा’।

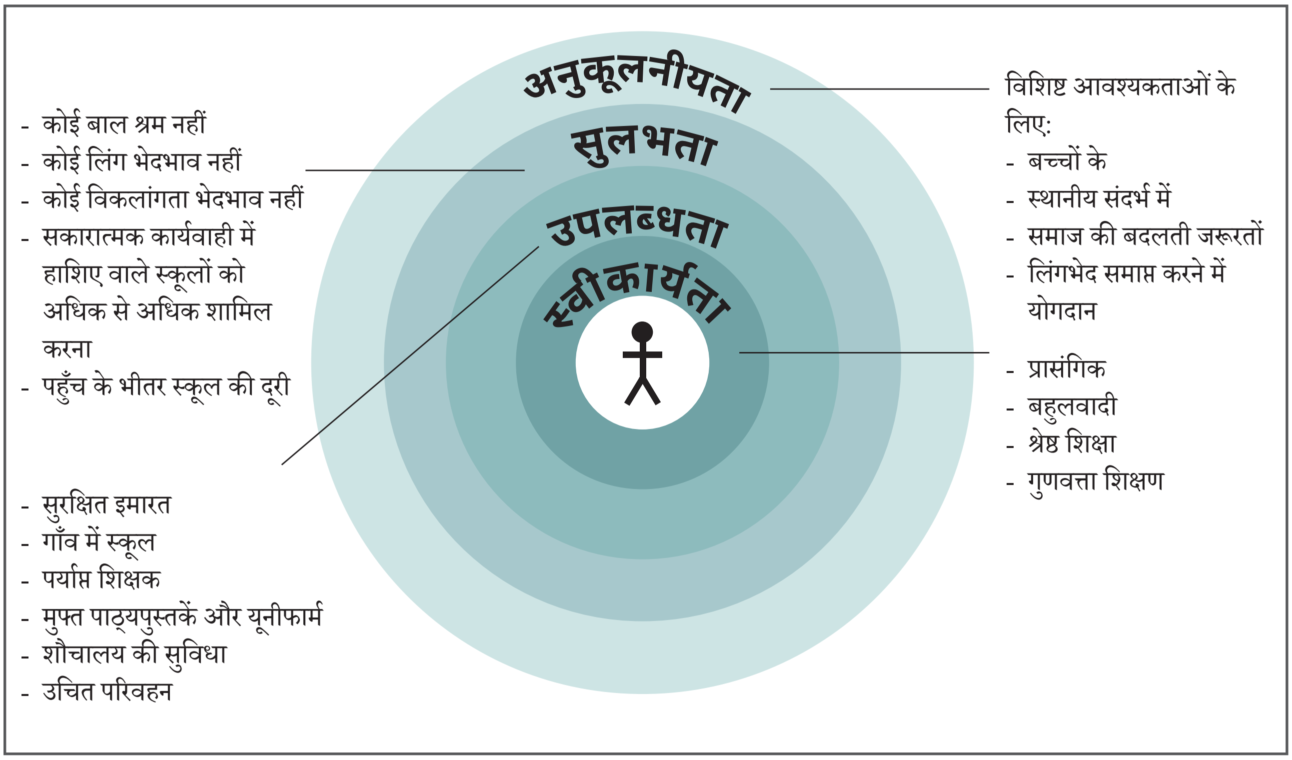
इस प्रकार भारत के संविधान ने शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया लेकिन यह शर्त जोड़ दी कि इस अधिकार को लागू किए जाने का तरीका अगले कदम के तौर पर परिणामस्वरूप बनने वाले कानून द्वारा निर्धारित किया जाएगा। संविधान में कहा गया कि “यह उस तारीख़ को प्रवृत्त [यानी लागू] होगा जो केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे।” भारत के संविधान के 2002 के संशोधन [संविधान (छियासीवाँ संशोधन)] के तहत अगले कदम के तौर पर बनने वाला यह कानून ‘निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009’ है, जिसे अगस्त 2009 में संसद द्वारा पारित किया गया और अप्रैल 2010 में क्रियान्वयन के लिए अधिसूचित किया गया। इस अधिनियम के आधार पर, इसी के अधीन, इसके क्रियान्वयन हेतु केन्द्र द्वारा राज्यों के दिशा-निर्देशन के लिए आदर्श नियम तैयार किए गए।

यह प्रगतिशील कानून शीघ्र ही मुकदमेबाजी में फँस गया क्योंकि कुछ स्कूलों ने इसकी संवैधानिकता को चुनौती दी। सुप्रीम

कोर्ट ने उनमें से दो को देखा और 2014 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम के पक्ष में फैसला दिया और इसकी वैधता को मजबूत करके इसके क्रियान्वयन को मंजूरी दी। यह स्पष्ट किया गया कि इस देश के हर एक बच्चे को प्राथमिक स्तर की शिक्षा पाने का अधिकार है जो एक न्यायसंगत अधिकार है और इसकी गारंटी लेना राज्य सरकार की जिम्मेदारी है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि आमतौर पर आर.टी.ई. को इसके एक प्रावधान के कारण संकीर्ण नजरिए से देखा जाता है। वह प्रावधान है वंचित बच्चों के लिए निजी स्कूलों में सीटों का आरक्षण। अधिकांश लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि 7 अध्यायों, 38 अनुभागों एवं कई उप-अनुभागों वाले इस अधिनियम में यह प्रावधान मात्र 1 उपखण्ड है। यह कानून प्रगतिशील है जो हमारी शिक्षा के क्षेत्र को एक नए और बेहतर कार्यसंचालन के तरीके की ओर ले जाता है। इसके लिए वह कई विद्यार्थी-केन्द्रित व बाल-स्नेही प्रावधानों का प्रयोग करता है जैसे कि अधिगम के खराब परिणामों की वजह से विद्यार्थियों को फेल न करना, इसकी जिम्मेदारी वयस्कों की है, क्योंकि यह उनका काम है, शारीरिक दण्ड का निषेध करना और इस प्रकार बाल-स्नेही वातावरण के निर्माण में सहायक होना, प्रवेश स्तर पर शिक्षकों की योग्यता के न्यूनतम स्तर को अनिवार्य करना और इस प्रकार शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में अधिगम की सम्भावना को बढ़ाना, स्कूलों में पालक समुदायों की भागीदारी स्थापित करना और एक निश्चित कार्यक्रम के साथ में विद्यालयों में मानदण्डों व मानकों को निर्धारित करना - यानी सूची काफी लम्बी है!

आर.टी.ई. को समझने का सबसे अच्छा तरीका है 4ए की रूपरेखा का उपयोग करना जिसे श्रीमती कैटरीना टॉमसेव्स्की (शिक्षा का अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र की पूर्व विशेष प्रतिवेदक) ने बनाया। यह अवधारणा एक्शन एड के नमूने का उपयोग करते हुए अधिनियम को समझाती है। इसके अनुसार शिक्षा एक सार्थक अधिकार है जो सबके लिए उपलब्ध, सुलभ, स्वीकार्य और अनुकूलनीय होनी चाहिए। 4ए की व्याख्या अन्तिम नहीं हैं, किन्तु अधिकार को ठोस कारकों के सन्दर्भ में समझाने में मदद करते हैं।



Source: Right to Education Project; http://r2e.gn.apc.org/ **4 As diagram © Action Aid**

उपलब्धता : शिक्षा निःशुल्क और सरकार द्वारा वित्त पोषित हो, पर्याप्त बुनियादी ढाँचा और प्रशिक्षित शिक्षक हों ताकि वे शिक्षा प्रदान करने में सक्षम हो सकें।

सुलभता : शिक्षा व्यवस्था भेदभाव रहित और सभी के लिए सुलभ हो, और बेहद वंचित लोगों के समावेशन के लिए सकारात्मक कदम उठाए जाएँ।

स्वीकार्यता : शिक्षा सामग्री प्रासंगिक, भेदभाव रहित, सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त और अच्छी गुणवत्ता वाली हो; स्कूल सुरक्षित और शिक्षक पेशेवर हों।

अनुकूलनीयता : शिक्षा समाज की बदलती जरूरतों के साथ विकसित हो और लिंग सम्बन्धी भेदभाव जैसी चुनौतीपूर्ण असमानताओं में योगदान दे, और विशिष्ट सन्दर्भों के अनुरूप इसे स्थानीय स्तर पर रूपान्तरित किया जा सकता हो।

आर.टी.ई. के इस स्पष्टीकरण से पता चलता है कि यह देश के लिए कितना पथप्रवर्तक साबित हुआ। यह शिक्षा को पूरी तरह से एकदम नए परिप्रेक्ष्य की ओर ले जाता है और शिक्षा के लिए अधिकार आधारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। लेकिन ऐसा रातों-रात नहीं हुआ, इसका एक दिलचस्प इतिहास है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में नवनिर्मित संविधान के अनुच्छेद 45 में कहा गया है कि "राज्य संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की अवधि के भीतर सभी बच्चों को तब तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगा जब तक कि वे 14 वर्ष के नहीं हो जाते"। वैसे शिक्षा राष्ट्रीय नीति 1968 पहला आधिकारिक दस्तावेज था जिसने प्राथमिक शिक्षा के प्रति भारतीय सरकार की प्रतिबद्धता की सम्पुष्टि की। इस प्रतिबद्धता पर 1986 की शिक्षा राष्ट्रीय नीति में भी बल दिया गया। 1990 में जब नीति की समीक्षा हुई तब संविधान में मौलिक अधिकार के रूप में शिक्षा का अधिकार शामिल करने की सिफारिश की गई, जिसके आधार पर 1992 की शिक्षा राष्ट्रीय नीति तैयार की गई। इस बीच जोमतीम (Jomtiem) घोषणा हुई और 1992 में भारत ने बाल अधिकारों (सी.आर.सी.) पर संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किए और शिक्षा को बच्चे का मूल अधिकार बनाने के लिए कानून बनाने की प्रक्रिया शुरू की। इस दिशा में पहले ही यानी 1976 में ही प्रगति हो चुकी थी जब संविधान में संशोधन के माध्यम से केन्द्र सरकार को स्कूल शिक्षा के लिए कानून बनाने में सक्षम किया गया। इसके पहले यह शक्ति पूरी तरह से राज्य के हाथों में थी। इन सभी घटनाक्रमों के साथ 1990 के प्रारम्भ में सुप्रीम कोर्ट ने दो फैसले दिए और कहा कि 'शिक्षा का अधिकार संविधान के भाग तृतीय के तहत निहित मौलिक अधिकारों के साथ सम्बद्ध है और प्रत्येक नागरिक को संविधान के तहत शिक्षा का अधिकार है' और यह कि, 'हालाँकि शिक्षा का अधिकार स्पष्ट रूप से मौलिक अधिकार के रूप में नहीं बताया गया है, लेकिन अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार में निहित है और इसे संविधान के निदेशात्मक सिद्धान्तों के प्रकाश में समझा जाना चाहिए'।

इस प्रकार, जैसा अनुच्छेद 45 और 41 के सन्दर्भ में समझा गया है, शिक्षा के अधिकार का मतलब यह है कि इस देश में हर बच्चे को चौदह वर्ष का होने तक निःशुल्क शिक्षा का अधिकार है। आर.टी.ई. को बच्चे के अधिकारों और उन अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई संस्थागत व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

दिलचस्प बात यह है कि जब सुप्रीम कोर्ट द्वारा आर.टी.ई. को कार्य प्रारम्भ करने की अनुमति मिली, तभी 2013 में बच्चों के लिए राष्ट्रीय नीति (एन.पी.सी.) अपना ली गई। महिला एवं बाल कल्याण मंत्रालय द्वारा राष्ट्र को पेश की गई इस नीति से आर.टी.ई. की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने में मदद मिली। नीति की प्रस्तावना में यह बात स्वीकारी गई है कि परिभाषा के अनुसार अठारह वर्ष से कम उम्र का कोई भी व्यक्ति बच्चा है और उसका बचपन जीवन का अभिन्न अंग है जिसका अपना एक मोल है। इसमें यह भी कहा गया है कि चूँकि बच्चे एक समान नहीं होते और उनकी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए विभिन्न अनुक्रियाओं की जरूरत होती है, इसलिए बच्चों के समग्र और सामंजस्यपूर्ण विकास तथा रक्षण के लिए एक दीर्घकालिक, टिकाऊ, बहु-क्षेत्रीय, एकीकृत और समावेशी दृष्टिकोण आवश्यक है। यह नीति हर बच्चे के निर्विवाद अधिकारों के रूप में उत्तरजीविता, स्वास्थ्य, पोषण, विकास, शिक्षा, रक्षण और भागीदारी को स्वीकारती है और बच्चों को प्रभावित करने वाले सभी कानूनों, नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों का मार्गदर्शन करने और उन्हें सूचित करने की अपेक्षा करती है। इसमें आगे यह कहा गया है कि सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय सरकार के सभी कार्यों और पहलों को इस नीति के सिद्धान्तों का सम्मान और समर्थन करना चाहिए।

एन.पी.सी. एक और प्रगतिशील नीति है जो न केवल राज्य की भूमिका के लिए पथ का निर्धारण करती है बल्कि बच्चों के अधिकारों को हासिल करने में गैर-राज्य हितधारकों के सक्रिय जुड़ाव, भागीदारी और सामूहिक कार्रवाई को प्रोत्साहन देकर (गैर सरकारी संस्थानों की भूमिका को पहचान देना) उनकी भूमिका को भी निर्धारित करती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह नीति सभी स्तरों पर ताल-मेल पर जोर देती है और बताती है कि एक अधिकार-आधारित दृष्टिकोण के लिए विभिन्न क्षेत्रों और समायोजनों में जागरूक, सम्मिलित और अनुपूरक कड़ियों की जरूरत होती है। यदि सदी की शुरुआत के बाद से की गई नीतिगत पहलों में कोई मुख्य बात है तो वह विभिन्न क्षेत्रों और नीतिगत पहलों में सम्मिलन वाली यही बात है। इसके पहले विभिन्न क्षेत्रों की नीतिगत पहलों में इस प्रकार का गहरा आपसी जुड़ाव और अपने संवैधानिक सिद्धान्तों का उपयोग करने वाली बात देखने में नहीं आई थी।

निष्कर्ष : आशावादी भविष्य

इस लेख में नई सहस्राब्दी में हुई नीति की पहलों की शृंखला में से केवल कुछ की संक्षिप्त चर्चा की गई है। लेकिन इससे अन्दाजा लग जाता है कि हम आज जहाँ हैं वहाँ कैसे पहुँचे और यह कि उसके पीछे कई वर्षों का संघर्ष है। आज जो कुछ भी ठोस रूप में साकार हुआ है, उसमें से अधिकांश की कल्पना हमारे संविधान में सात दशक पहले की गई थी - यह बात हमारे संविधान के निर्माताओं की प्रगतिशीलता और दूरदर्शिता को दर्शाती है - मानव अधिकारों पर अन्तर-राष्ट्रीय विकास और हमारे अपने राजनीतिक और न्यायिक सहित विभिन्न प्रकार के विकासों के कारण हम एक समयावधि तक पहुँच गए; जिसे और ऊर्जा मिली 'नई सहस्राब्दी' के आगमन की एक बड़ी कैलेंडर घटना से, और ये सारे काम होने लगे। विचारों को मूर्त रूप मिलने लगा। नीति के विचारों को जिन परियोजनाओं और योजनाओं की आवश्यकता थी, वे उन्हें मिलीं; इसके लिए राजनीतिक समर्थन और न्यायिक सक्रियता भी मिली और काम आगे बढ़ा।

संवैधानिक सिद्धान्तों पर आधारित इन पहलों के माध्यम से हमारे, विशेष रूप से हमारे बच्चों के, भविष्य निर्माण के लिए संवैधानिक सिद्धान्तों पर आधारित एक मजबूत नींव रखी गई है। हम अपने भविष्य के प्रति आशावान बन सकते हैं और उम्मीद कर सकते हैं कि सभी हितधारक, राज्य और नागरिक इन नीतिगत पहलों की नींव पर एक बेहतर समाज के निर्माण के लिए कड़ी मेहनत करेंगे। इसलिए जब कोई कक्षा में बच्चों को फेल न करने की नीति या सी.सी.ई. (सतत और व्यापक मूल्यांकन) जैसे प्रगतिशील मूल्यांकन के सुधार को हटाने की माँग करता है तो यह चिन्ता का विषय है। अगर इनमें से कुछ प्रगतिशील पहलों में किसी प्रकार की कोई कमी है भी तो उन्हें हटाने से बेहतर है कि उनका क्रियान्वयन बेहतर तरीके से किया जाए। हमें ध्यान रखना चाहिए कि संकीर्ण विचारधाराओं के प्रभाव या लोकप्रिय माँग के चलते कहीं हम एक कदम आगे और दो कदम पीछे तो नहीं हट रहे और अपनी प्रगति में गतिरोध तो पैदा नहीं कर रहे?

आज भारत में हम एक ऐसा समय देख रहे हैं जब न केवल सही नीतियाँ कारगर हैं बल्कि की गई पहल भी पिछले डेढ़ दशकों से अच्छा कार्य कर रही हैं बावजूद इसके कि दो-एक बार सरकार बदली है। ये पहल शिक्षा के क्षेत्र में हमारी अब तक की कार्यविधि में भारी बदलाव ला रही हैं। आइए, हम उनके आधार पर निर्माण करके तेजी से प्रगति करें; न कि इन पहलों के पुनर्निर्माण के बारे में सोचें।

बी.एस.ऋषिकेश अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ पॉलिसी एण्ड गवर्नेंस विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं; वे विश्वविद्यालय में स्थित शिक्षा, कानून एवं पॉलिसी केन्द्र का नेतृत्व भी करते हैं। शैक्षिक मूल्यांकन और शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में शोध करने में उनकी रुचि है। वे शैक्षिक नीति से जुड़े समकालीन विषयों के साथ गहनता से जुड़े हुए हैं। उनसे rishikesh@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल

चिन्ता के क्षेत्रों पर एक नजर : भगवाकरण, असमानता और निजीकरण पर क्या कहता है परामर्श दस्तावेज?

अमन मदान



शायद अच्छा होगा कि परामर्श-दस्तावेज (lnputs Document) पर चर्चा की शुरुआत उन पद्धतीय समस्याओं को ध्यान में लेते हुए की जाए, जो किसी भी नीति-दस्तावेज को पढ़ने में और उस की व्याख्या करते समय आ सकती हैं। सम्भावना है कि इनमें एक अर्थ देने वाले स्पष्ट सन्देश न हों – यह हमें स्वीकारना चाहिए। कई अन्य किस्म के पाठों की तरह इन्हें भी अलग-अलग तरह से पढ़ा जा सकता है। इन्हीं के भीतर कई - और बहुत बार परस्पर-विरोधी, उलझे हुए - स्वर सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी ये प्रयास भी हो सकते हैं कि कुछ मुद्दों को जान-बूझकर अस्पष्ट तथा अपारदर्शी रखते हुए उन्हें कई व्याख्याओं के लिए खुला छोड़ दिया जाए। कुछ हद तक यह अपरिहार्य भी है, क्योंकि जब एक दस्तावेज परामर्श और सहयोग की प्रक्रिया से होकर निकलता है तो इसी प्रक्रिया के भीतर कई संघर्ष और समझौते भी रहे होंगे। जब हम नीति-दस्तावेजों की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, तो हम शायद बस कुछ केन्द्रीय विषयों के लिए ही नजर खुली रख सकते हैं और देखने की कोशिश कर सकते हैं कि कैसे किसी एक तरीके से ही नहीं, बल्कि अलग-अलग तरह से उनसे सम्बोधित हुआ गया है। जो कहा गया है, उसे तो हम देखते ही हैं, साथ ही कई आवाजों की उपस्थिति के अलावा हम चुप्पियों को भी खोजने की कोशिश कर सकते हैं और विचार कर सकते हैं कि वे महत्वपूर्ण हैं या कि बस संयोगवश। ऐसे दस्तावेजों की समीक्षा करते समय यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि उन्हें किन तरीकों से प्रयोग किया जा सकता है। बाद के समय में लोग एक नीति-दस्तावेज को अपने-अपने एजेण्डा के पक्ष में इस्तेमाल करेंगे और बाकी सब बातों को अनदेखा करके बस उन बातों को निकालकर लाया जाएगा जो किसी विशेष एजेण्डा के पक्ष में जाती हैं। आशा की जा सकती है कि हिन्दुत्ववादी और धर्मनिरपेक्ष लोग, निजीकरण के समर्थक और वे जो शिक्षा के लिए राज्य की सहायता को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, सब एक ही दस्तावेज से अलग-अलग सिफारिशें उद्धृत करेंगे। जब हम नीति-दस्तावेजों की व्याख्या करते हैं, तो अच्छा यह रहता है कि हम उनसे कोई केवल एक सारगर्भित सन्देश निकालने की कोशिश न करें। बेहतर शायद यह हो कि उन्हें उनकी जटिलता के साथ देखा जाए, उनमें मौजूद कई आवाजों के साथ, क्योंकि इससे यह कल्पना करने में मदद मिलेगी कि ऐसे दस्तावेज का अन्ततः कितने तरीकों से इस्तेमाल किया जा सकता है।

परामर्श-दस्तावेज में उठाए गए कई विचारों और मुद्दों में से मैं केवल तीन पर ध्यान केन्द्रित करूँगा : शिक्षा का भगवाकरण, अधिक सामाजिक बराबरी को बढ़ावा एवं समर्थन, और शिक्षा का निजीकरण। ये वे क्षेत्र हैं, जिनके बारे में बहुत लोगों ने प्रासंगिक रुचि और चिन्ता व्यक्त की है – इस बात को लेकर, कि राष्ट्रीय नीति किस दिशा में जा सकती है। ये वे क्षेत्र भी हैं, जिनमें बहुत लम्बे समय से मेरी दिलचस्पी रही है।

भगवाकरण

परामर्श-दस्तावेज के जारी होने पर हममें से कई लोगों के दिमाग में पहला सवाल इस बात से सम्बद्ध था कि क्या इसकी सिफारिशों में हिन्दुत्ववादी दावा होगा? यह आशंका विशेष तौर से इसलिए थी क्योंकि सम्पूर्ण कमेटी में शिक्षाविद और अकादमिक व्यक्ति केवल एक ही थे। इसलिए यह देखकर आश्वस्त हुआ जा सकता है कि हिन्दू श्रेष्ठता का कोई तीखा दावा या अल्पसंख्यकों का दानवीकरण नहीं किया गया है। दस्तावेज के अधिकतर हिस्से में इस्तेमाल की गई भाषा काँग्रेस-प्रायोजित दस्तावेजों की याद दिलाती है – याद दिलाती है कि किस तरह वे भारतीय शिक्षा में संस्कृति की भूमिका का चित्रण करते थे। बार-बार विविधता का आदर करने और सहनशीलता को बढ़ावा देने के महत्व का जिक्र किया गया है (उदाहरण के लिए, पृष्ठ 14, 30)। इस बात को भी स्थाई तौर पर दोहराया गया है कि विद्यार्थी अपने देश और उसकी विरासत पर गर्व करना सीखें (पृष्ठ 14)। लेकिन युवा वर्ग अपने देश पर गर्व करें, इस इच्छा के होने में हैरत की बात क्या है? यह आजादी के बाद की विभिन्न शिक्षा-रिपोर्टों और नीति-कथनों में एक सूत्र की तरह मौजूद रहा है।

दो-एक छोटी-छोटी हिचकियाँ हैं लेकिन क्योंकि वे काँग्रेस के समय में भी रही थीं, इसलिए उन के बारे में निश्चित तौर पर कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, भारत में शिक्षा के इतिहास का संक्षिप्त वृत्तांत प्रारम्भिक बीसवीं सदी के राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की मूल व्यवस्था का अनुसरण करता प्रतीत होता है। बीते समय की इस बोधात्मक क्रम-

व्यवस्था के मुताबिक महान ऐतिहासिक उपलब्धियाँ तो बस वैदिक और ब्राह्मणवादी परम्पराओं में ही हुई थीं। कहानी वेदों से शुरू होती है, संस्कृत की उपलब्धियों की ओर बढ़ती है, बीच की सदियों पर से एक लम्बी छलाँग लगाती है, और औपनिवेशिक काल में शिक्षा पर विचार करने वाले भारतीयों के बारे में बात करना शुरू करती है। गैर-संस्कृत संस्कृतियों, तमिल संगम परम्परा, फ़ारसी और जनभाषाओं की परम्पराओं की अनुपस्थिति, शिक्षा पर ब्राह्मणवाद के प्रभुत्व की समस्या आदि – इनमें से किसी का भी न होना हैरत पैदा नहीं करता क्योंकि इन्हें चुप रखना शिक्षा पर काँग्रेस के विमर्शों का पुराना ताना-बाना रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के चित्रण में यह सामान्य बात है। हमें अब यह एहसास हुआ है कि भारत के भूतकाल की यह तस्वीर अधूरी और एक-आयामी है। बीते समय में कई अन्य सांस्कृतिक धागे भी रहे हैं। कभी-कभी उनकी परस्पर अन्त:क्रिया से उल्लेखनीय नए मिश्रण और फलन-फूलन हुए थे। और इनके फलस्वरूप कभी-कभी भयानक दमन भी हुए।

शिक्षा से सम्बद्ध कल्पना-दृष्टि में भारत की इस अधिक सम्पूर्ण तस्वीर की अनुपस्थिति की वजह से मैं खुद को इस बारे में कुछ अनिश्चितता की स्थिति में पाता हूँ कि दस्तावेज में किस उद्देश्य का इरादा है। मुसलमानों के आने से ब्राह्मणवादी स्वर्ण-युग के ढह जाने की कहानी झूठी है लेकिन यही कट्टर हिन्दू समूहों का मुख्य सहारा बन गई है। यह कहानी मध्ययुगीन काल की सब उपलब्धियों की तथा विभिन्न वर्गों, इलाकों, समुदायों और एक-दूसरे संग संघर्षरत संस्कृतियों की पेचीदगियों की भी अवहेलना करती है। लेकिन यह संकुचित वृत्तांत काँग्रेस के समयकाल में भी रहा। प्रो. कृष्ण कुमार इस ओर बार-बार इशारा करते रहे हैं कि काँग्रेस के नेतृत्व में भारतीय संस्कृति के विमर्श और चर्चाओं ने आज से बहुत पहले शिक्षा के साम्प्रदायीकरण को वैधता प्रदान की थी। इस अर्थ में 19वीं सदी के भारत में उभरकर आई कुछ विशेष चर्चाओं और विमर्शों को आगे ले जाने का काम हिन्दुत्ववादी करते रहे हैं और ये विमर्श तथा चर्चाएँ कई राजनैतिक समूहों में भी साझा रहे। इस निरन्तरता के चलते उन्हें आश्वासन और वैधता प्राप्त रहते हैं। इसके मुकाबले, इतिहास के अधिक कड़ाई से हुए अध्ययनों से जाहिर होता है कि हमारा भूतकाल 'हिन्दुत्व के स्वर्णिम युग और इस्लाम द्वारा उसका विनाश' की कहानी से कहीं अधिक जटिल है।

मेरे दिमाग में कई सवाल उठते हैं। क्या राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मार्गदर्शन करने वाले एक दस्तावेज से यह अपेक्षा रखना, कि वह इस विमर्श से अवगत रहे कि भारत के भूतकाल को कैसे देखा जाए, आवश्यकता से अधिक आशा रखना है? क्या वर्तमान दस्तावेज का भारतीय संस्कृति को प्रस्तुत करने के काँग्रेस के तौर-तरीकों की संगति में होना समकालीन हिन्दुत्व की हिंसा एवं आक्रामकता का खण्डन और अस्वीकृति है? या क्या यह उस पर एक मुलम्मा चढ़ाने का तरीका है, उसे अधिक सम्माननीय एवं परम्परागत रूप में प्रस्तुत करने का तरीका है? मैं तो बस यही आशा कर सकता हूँ कि दस्तावेज इन दोनों में से पहली बात कर रहा हो, न कि दूसरी। लेकिन यह आशा तो है ही कि भारत के सांस्कृतिक भूतकाल की ऐतिहासिक संकल्पना अधिक सटीक एवं सूचना-सम्पन्न हो।

बेहतर तो यह होता कि हिन्दुत्ववादी शिक्षा द्वारा केन्द्रीय-सज्जा के रूप में स्वीकार कर ली गईं बँधी-बँधाई, रूढ़िगत बातों के साँचे को तोड़ा जाता। मिसाल के तौर पर, मूलपाठ-विषयक ज्ञान की श्रेष्ठता के ब्राह्मणवादी प्रतिमानों पर सवाल उठाए जाते तो अच्छा लगता। मध्ययुगीन काल में उभरकर आने वाले संस्कृतियों के मिश्रण तथा उसी काल में भारत के विश्वविद्यालयों में न्याय सम्बन्धी, खगोलशास्त्रीय एवं चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान-संचय के बारे में भी सुनना अच्छा लगता। भारतीय संस्कृति और उसकी शिक्षा प्रणालियों की अधिक यथार्थवादी तस्वीर पेश करने वाले ऐसे ही कई अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस बारे में चुप्पी का अर्थ है उन लोगों द्वारा आपको आसानी से अपने साथ मिला लिया जाना जो दक्षिण एशिया क्षेत्र में राज्यों तथा सत्ता की सामाजिक संरचनाओं के साथ ज्ञान-निर्माण के रिश्ते पर व्यापक होते अनुसंधान की गति से मेल नहीं रख पाए हैं। अधिक जटिल यथार्थ पर बल दिया जाता तो अपनी ओर कर लिए जाने की इस सम्भावना को रोकना आसान हो जाता। और तब इस बात में अधिक सच्चा होने का गुण भी होता।

सामाजिक गैर-बराबरी

भारत की शिक्षा व्यवस्था के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है बड़े पैमाने पर सामाजिक गैर-बराबरी की समस्या। बेहतरीन स्कूलों में जाने वाले बच्चों की संख्या बहुत कम है जबकि बहुत अधिक संख्या में बच्चे कम स्टाफ वाले, बुरी

तरह से चलाए जा रहे, लगभग ठप्प से स्कूलों में जाने को बाध्य हैं। यह एक महत्वपूर्ण अन्तर-राष्ट्रीय रुझान रहा है कि गरीब और समाज के हाशिए पर पड़े बच्चों के लिए स्कूलों को बेहतर बनाने पर बल दिया जाए। दुनिया भर की शिक्षा-व्यवस्थाओं में यह सभी मुख्य-सुधारों के केन्द्र में रहा है।

यह एक ऐसी चुनौती है जिसका सामना किया जाना बाध्यकारी सा हो चला है। इसीलिए नई शिक्षा नीति में कौन-सी नई पहलकदमियाँ और रणनीतियाँ हो सकती हैं, इस बात को लेकर काफी जिज्ञासा थी। शिक्षा में सामाजिक गैर-बराबरी को कैसे कम किया जाए और शिक्षा के क्या नतीजे हों, इसको लेकर परामर्श-दस्तावेज में एक बहकी सी दृष्टि दिखाई देती है। कुछ जगह तो यह दस्तावेज पक्के तौर पर समतावादी दिखाई देता है जबकि अन्य जगह सामाजिक असमानता को बढ़ाने वाली ताकतें आसानी से इसका इस्तेमाल कर सकती हैं। सकारात्मक पहलू यह भी है कि कई बिन्दु आते हैं जब विशेष तौर से समाज के हाशिए पर पड़े समूहों (जैसे कि एस.सी., एस.टी. ओ.बी.सी., मुस्लिम तथा अन्य के मुकाबले पिछड़ गए इलाकों के लोगों) के दाखिलों में बढ़ोतरी से सम्बद्ध सरोकार को मजबूती से अभिव्यक्ति दी गई है (उदाहरण के लिए पृष्ठ 10, 15)।

'समावेशी शिक्षा और विद्यार्थी-समर्थन' (पृष्ठ 23-25) वाले खण्ड में इस बात की स्वागत-योग्य स्वीकृति है कि विद्यार्थी-समर्थन को बस बाद में आए एक ख्याल के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि इसे हमारी शिक्षा व्यवस्था के स्तम्भों में से एक बनना होगा। बड़ी संख्या में विद्यार्थी ऐतिहासिक और भौतिक-शारीरिक तौर पर वंचित पृष्ठभूमियों से आते हैं। फिर उन्हें यह संघर्ष करना पड़ता है कि खुद को उनके बराबर ला पाएँ जिनकी परिस्थितियाँ ऐतिहासिक तौर पर बेहतर रही हैं। आवश्यकता है कि प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक शिक्षण संस्थाएँ विद्यार्थियों की सहायता की प्रक्रिया को अपनी नियमित कार्यविधि का एक हिस्सा बनाएँ ताकि ये विद्यार्थी स्वयं में छुपी प्रतिभा को प्रदर्शित कर पाएँ।

इन तथा अन्य कई समता-हितैषी कदमों के बावजूद महसूस होता है कि इस दस्तावेज में इस बात पर और अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता थी कि असल में समता को बढ़ावा देने के लिए कैसे काम किया जाए। इस बात का कोई जिक्र नहीं है कि भारत में शिक्षा से सम्बद्ध असमानता अब भी इतनी तीखी क्यों है, जबकि उच्चतम, मध्य और निचले स्तरों के बीच इतनी अधिक असमानताएँ हैं। उदाहरण के लिए, एक के बाद एक शिक्षा-आयोग एवं शिक्षा-नीतियाँ इस माँग को लेकर कुछ कामयाबी हासिल नहीं कर पाई हैं कि सकल घरेलू उत्पाद का 6% शिक्षा पर खर्च हो। यदि इस बात पर ही कोई चिन्तन नहीं है कि क्यों यह माँग पूरी नहीं की गई है, तो सोचने की बात है कि क्या अब के इन नीति-प्रस्तावों का भी वही हश्र तो नहीं होगा जो 1968 और 1992 की राष्ट्रीय शिक्षा-नीतियों का हुआ था? यहाँ प्रस्तावित रणनीति में विशेष तौर से ऐसा क्या अलग है जिससे इसके कामयाब होने की अधिक सम्भावना बने? क्या यह इस बात को स्वीकारती है कि कुछ निहित स्वार्थ अच्छी शिक्षा के फैलाव के विरुद्ध खड़े हैं? वे स्वार्थ क्या हो सकते हैं? क्या कोई अन्य तरह की बाधाएँ भी हैं? उन पर कैसे जीत हासिल की जाएगी? इन मूल प्रश्नों पर कोई रौशनी नहीं डाली गई है।

एक और मूल समस्या पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी गई है, और वह है स्कूली पाठ्यचर्या के सामाजिक पूर्वाग्रह। फुले के समय से लेकर अब तक हम यह आलोचना सुनते आए हैं कि शैक्षिक पाठ्यचर्या तथा स्कूलों की संस्कृतियों का रूझान अर्थव्यवस्था के शहरी, संगठित सेक्टर की आवश्यकताओं की ओर रहता है, खासतौर से उद्योग एवं सेवाओं की ओर। मौजूदा नीति-दस्तावेज इसे समस्या का क्षेत्र नहीं मानता और शिक्षा के लाभों के विस्तार पर बल देते हुए इस में कृषि, दस्तकारी तथा असंगठित क्षेत्र को शामिल करने की कोई बात नहीं की गई है। अगर हम भारत में शैक्षिक एवं सामाजिक असमानताओं को कम करना चाहते हैं तो पाठ्यचर्या के इन तत्वों को निरन्तर हाशिए पर नहीं रखा जा सकता। असल में तो इस सम्पूर्ण दस्तावेज के विभिन्न हिस्सों में हमें स्कूली पाठ्यचर्या में क्या होना चाहिए, इस बाबत आमतौर पर प्रचलित धारणाओं की ही एक भोली-सी स्वीकृति देखने को मिलती है। दस्तावेज इस बात को मानता हुआ नहीं दिखाई देता कि पाठ्यचर्या की भी एक सांस्कृतिक राजनीति होती है जिसके माध्यम से कुछ विशेष वर्गों, व्यवसायों, जातियों, पुरुष वर्ग, कुछ विशेष भाषाओं और क्षेत्रों को बल मिल सकता है। इस प्रकार, महिलाओं या उत्तर-पूर्व आदि के लोगों की अधिक सदृश्यता या उन्हें अधिक सक्रिय भूमिका देने के बारे में कोई सिफारिश

नहीं है। ज्ञान को चर्चा के लिए खोलने के मकसद से उसे एक समस्या के रूप में रखने और उसे रचने तथा पुनरुत्पादित करने के लिए कुछ कमजोर और यदा-कदा से इशारे भर किए गए हैं। बार-बार इस बात का जिक्र किया गया है कि दक्षताएँ सिखाई जाएँ और सूचना सम्प्रेषण प्रौद्योगिकी (आई.सी.टी.) का प्रयोग किया जाए। लेकिन इससे सुझाया यह जा रहा है कि भारतीय शिक्षा में समस्याएँ तो बस तकनीकी ज्ञान और वह भी औद्योगिक किस्म के ज्ञान की ही हैं (कृषि-सम्बन्धी या किसी अन्य किस्म की नहीं)। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में ज्ञान से सम्बद्ध समस्या को देखने का यह अत्यधिक साधारण-सामान्य तरीका है। अगर हम सामाजिक बराबरी को तेजी देना चाहते हैं, तो हमें उन ज्ञानों को भी बढ़ावा देना होगा जो गरीब और हाशिए पर पड़े लोगों का सशक्तीकरण कर पाएँ तथा उन्हें समाज में पहले से अधिक ध्वनि और अधिक गतिशीलता भी मिल पाए। इसका अर्थ है कि इस बात पर एक ताजा नजर डालना होगी कि हम किस प्रकार की संस्कृति की शिक्षा देते हैं – और ऐसी संस्कृतियों को बढ़ावा दिया जाए जिनसे सशक्तीकरण होता है और जो आजाद करती हैं।

पूरे दस्तावेज में घिसे-पिटे मुहावरों को दोहराया गया है, जिनसे लगता है कि जैसे यह दस्तावेज भारतीय समाज की जरूरतों को लेकर पीढ़ियों से होती आई बहस के इर्द-गिर्द हुए बड़े आकार के काम से अनजान है। एक उदाहरण (पृष्ठ 21 पर) भारत के संविधान में से अधिकार और कर्तव्य पढ़ाने के महत्व के जिक्र का है। जैसा कि स्कूलों में सामाजिक-विज्ञान के शिक्षण से सम्बद्ध अनगिनत विद्वानों ने ध्यान दिलाया है, हमें संवैधानिक मूल्यों के शिक्षण के प्रति एक नए और ताजा नजरिए की जरूरत है। भारत में अधिकार और कर्तव्य कई दशकों से इस तरह पढ़ाए जाते रहे हैं कि सारी बात आमतौर पर वाक्यांशों के तोता-रटन्त में सिमटकर रह जाती है। असल में तो बिना दिमाग लगाए, केवल अंक हासिल करने के लिए संविधान के बारे में सीखना-सिखाना कई बार यह अर्थ देने में भी भूमिका निभाता है कि जैसे संविधान एक मर चुका, अप्रासंगिक दस्तावेज है और स्वयंभू तरीके से कानून को अपने हाथ में लेकर ही काम बनता है। व्यर्थ ही आप दस्तावेज में दी गई नीतिगत सिफारिशों में किसी ऐसे विकल्प को तलाशते हैं, जो राजनैतिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान को हमारी शिक्षा-व्यवस्था के जीवन्त हिस्से के तौर पर निर्मित करता है। जब युवा लोग इस बात को समझना शुरू करेंगे कि अधिकारों से सम्बद्ध विचार क्यों उभरकर आए और उनके लाभ क्या हैं, और जब वे अपने इर्द-गिर्द के संघर्षों और बहसों के स्पन्दन को महसूस करना शुरू करेंगे तब वे प्रगतिशील सिद्धान्तों को अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनाना शुरू करेंगे। इसी तरह की शिक्षा-पद्धतियों और पाठ्यचर्याओं के माध्यम से सम्भावना बनेगी कि अपने आसपास के अन्य लोगों का आदर करने वाला, लोकतांत्रिक और चिन्तनशील सामाजिक व्यवहार उभरना शुरू हो।

लेकिन कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि दस्तावेज इस बात को महत्व नहीं देता कि युवा लोग समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था के बारे में जानें-सीखें। ऐसे में इस बात पर विचार कैसे हो सकता है कि युवाओं को यह सिखाने का सबसे बेहतरीन तरीका क्या है कि वे अपने आसपास के मसलों पर सक्रिय तथा न्याय-प्रवृत्त दिलचस्पी लें? दस्तावेज की अवधारणात्मक रूपरेखा से सामाजिक-विज्ञान और मानविकी पूरी तरह से गायब हैं। इसकी बजाए 'नैतिक शिक्षा' को सामाजिक न्याय, समानता, महिलाओं के प्रति आदर इत्यादि को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त मान लिया गया है (पृष्ठ 31)। मानविकी एवं सामाजिक-विज्ञान को पोषित करने के महत्व की ओर आमतौर पर कोई ध्यान न दिया जाना 1986/1992 के दस्तावेज की तुलना में एक महत्वपूर्ण बदलाव है जबकि उसमें कम से कम ऊपरी तौर पर ही सही, लेकिन इनकी बात तो की गई थी। यह हमें उस भोलेपन की भी याद दिलाता है जिसके तहत कई राजनैतिक और सामाजिक समूह स्वयं में मूल्यों की शिक्षा सिखाने की बात करते हैं, जैसे कि यह राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्धों की गतिशीलता के हवाले के बिना भी सिखाए जा सकते हों।

समकालीन भारतीय शिक्षा की एक दुखद विशेषता यह है कि सामाजिक असमानता को समझने और उसके साथ जूझने की सामर्थ्य प्रदान करने वाले विषय-क्षेत्र और ज्ञान पिछड़ गए हैं, उन्हें अब पहले जैसा महत्व नहीं दिया जाता। हमें सामाजिक असमानता के व्यवस्थागत कारणों को देखना होगा, तब ही हम उसकी जड़ों को निकालना शुरू कर पाएँगे। दुर्भाग्य से यह दस्तावेज भारतीय संस्कृति में बढ़ रही इस अनभिज्ञता को ही व्यक्त करता है। यह आशा करना कि वह स्वयं द्वारा व्यक्त कमी के बारे में कुछ प्रतिक्रिया देगा, शायद असम्भव के पूरा होने की उम्मीद जैसा ही होगा।

निजीकरण

शिक्षा का निजीकरण वह ऊँट है जो भारतीय शिक्षा के टेन्ट में घुस गया जबकि किसी भी मुख्य राष्ट्रीय नीति-दस्तावेज ने उसे यह निमंत्रण नहीं दिया था। अब तो वह टेन्ट पर भी अपना अधिकार जमाने लगा है। तृतीय स्तर की शिक्षा, यानी महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में, अधिकतर विद्यार्थी निजी संस्थाओं में हैं और स्कूली शिक्षा में भी उनकी संख्या साल-दर-साल बढ़ ही रही है। 1986/1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा इतने जबरदस्त परिवर्तन का अनुमोदन कभी नहीं किया गया था, जबकि पाठ्यचर्याओं की राजनीति तथा सामाजिक असमानता पर भी इसके कितने ही प्रभाव एवं परिणाम हैं। वर्तमान परामर्श-दस्तावेज भी शिक्षा के निजीकरण की पड़ताल एक नीतिगत स्थिति या रणनीति के रूप में सीधे तौर पर नहीं करता है। निजीकरण अब जीवन के एक सामान्य तथ्य की तरह दिखाई देता है जिसे एक आवश्यक बुराई की तरह स्वीकार कर लिया गया है। निजीकरण के लाभों और उसकी कीमत के बारे में मूल सोच-विचार का अभाव एक पहेली की तरह है। नीतिगत दस्तावेजों से आशा की जाती है कि विवादास्पद मुद्दों पर कोई सीधी बात की जाएगी, बताया जाएगा कि वह उसके पक्ष में है या विपक्ष में और किसी समझौते, बीच के हल के बारे में सोचा जा रहा है, तो वह क्या है? लेकिन दस्तावेज में निजीकरण पर एक गम्भीर, सीधी चर्चा की खोज करना व्यर्थ ही है।

कई कथन हमें आश्वस्त करवाते हैं कि सरकार सबके लिए अच्छी शिक्षा सुनिश्चित करवाने की अपनी जिम्मेदारी को नहीं त्यागेगी। इनमें (1968 और 1986/92 की नीतियों के साथ ही) इस बात की पुन: पुष्टि शामिल है कि सकल घरेलू उत्पाद का 6% अवश्य ही शिक्षा पर लगाया जाना चाहिए। यह बात बल देकर कही गई है कि भारत में शिक्षा को 'एक सार्वजनिक सेवा माना जाना चाहिए' (पृष्ठ 40)। यह ध्यान देने की बात है कि केवल प्राइमरी शिक्षा या स्कूली शिक्षा ही नहीं, बल्कि आमतौर पर शिक्षा को सार्वजनिक हित की वस्तु कहा जा रहा है, जो पानी और हवा की तरह सबको उपलब्ध होनी चाहिए। निजी सेक्टर द्वारा किए जाने वाले उत्कृष्टता के दावों (पृष्ठ 8) के बारे में भी संशयवादी टिप्पणियाँ मौजूद हैं और उनके तथाकथित तौर पर सरकारी स्कूलों से उत्तम होने से सम्बद्ध टिप्पणी भी है।

इसी के साथ-साथ 'शिक्षा क्षेत्र में मुख्य चुनौतियाँ' के शीर्षक वाले अध्याय में निजीकरण, और शिक्षा के बढ़ते दामों तथा इसके परिणामस्वरूप सामाजिक असमानताओं के तीखा होने की बात मुख्य विषय के तौर पर सामने नहीं आती। यह भी एक न समझ में आने वाली बात है क्योंकि निजीकरण सच में भारतीय शिक्षा में असमानता के बढ़ने के बड़े कारणों में से एक है। पहुँच से सम्बद्ध असमानताओं पर तो कई अन्य समस्याओं के साथ चर्चा की गई है, लेकिन इन्हें बल प्रदान करने में निजीकरण की भूमिका को चर्चा के लायक नहीं माना गया लगता। 'शासन एवं प्रबन्धन' पर एक खण्ड में शिक्षा के व्यापारीकरण के बारे में एक वाक्य तो है (पृष्ठ 12) मगर इससे अधिक कुछ भी तो नहीं।

शिक्षा के लिए वित्तीय व्यवस्था पर खण्ड में परोपकारी एवं कॉरपोरेट सामाजिक जिम्मेदारी (सी.एस.आर.) से सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा शिक्षा को बढ़ावा देने की उनकी भूमिका का स्वागत किया गया है। लेकिन कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि शिक्षा को लाभ के लिए गतिविधि नहीं माना जाना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण अर्थभेद है क्योंकि कुछ पी.पी.पी सुझावों को इसी विशेष बिन्दु पर प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा है। बहुत लोगों ने इस बात का भय व्यक्त किया है कि सी.एस.आर. के नाम पर सार्वजनिक संसाधन निजी हाथों में सौंपे जा सकते हैं ताकि उन्हें बड़ा लाभ प्राप्त हो पाए। अच्छा होता अगर यह स्पष्टीकरण दिया जाता कि बचाव के लिए पर्याप्त कदम उठाए जाएँगे ताकि सार्वजनिक संसाधनों को पहले से ही अमीर लोगों के लिए लुके-छुपे तरीके से निजी पूँजी के रूप में निर्मित न कर लिया जाए। इस तरह की संवेदनाओं का दस्तावेज में न होना चिन्ता को जन्म देता है।

भारत में शिक्षा का बढ़ता निजीकरण विद्यार्थियों के लिए ऋणों की लोकप्रियता में अभिव्यक्त हो रहा है। इसकी कुछ स्पष्ट समस्याएँ हैं, क्योंकि इससे ऋण बाजार की प्रक्रिया में उसको खींच लाते हैं जिसे शायद बाजार की गतिविधि के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके केन्द्र में विचार यह है कि हम शिक्षा को नैतिक विकल्पों/अभिरुचियों द्वारा संचालित देखने की इच्छा रखते हैं या फिर इससे संचालित, कि अधिकतम वेतन किससे मिलता है। अगर हम हर प्रकार की शिक्षा के लिए उच्च फीस लेना शुरू कर देते हैं, तो केवल वे व्यवसाय एवं विषय-क्षेत्र फलेंगे-फूलेंगे जिनसे उच्च-स्तर का वापसी मुद्रा-लाभ

मिलता होगा, क्योंकि लोग दिए गए धन की वापसी तो कम से कम चाहेंगे ही। लेकिन कई ऐसे व्यवसाय हैं जो समाज को काफी अधिक वापसी मुद्रा-लाभ तो देते हैं लेकिन आवश्यक नहीं है कि वे उच्च स्तर के वेतन भी देते हों। उदाहरण के लिए अगर हम किसी से एक करोड़ रुपया लगाकर मेडिकल डॉक्टर बनने को कहें तो वह व्यक्ति उस धन को अपने व्यवसाय के माध्यम से वापिस पाने की कोशिश करेगा। अधिकतर लोग स्वीकारेंगे कि हम नहीं चाहते कि डॉक्टर ऐसा करें। हम चाहते हैं कि वे कम से कम दाम पर अपने मरीजों की सेवा करने के बारे में सोचें – यह न सोचें कि वे किस तरह महँगे इलाज के जरिए अपनी शिक्षा पर हुए खर्च को पूरा कर सकते हैं।

अमेरिकन कम्पनियों के लिए सॉफ्टवेयर तैयार करने का प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थी से प्रशिक्षण हेतु काफी अधिक शुल्क लिया जाना ठीक हो सकता है। यह विद्यार्थी पर निर्भर होगा और इस पर भी कि ऐसा काम करने वाले को रोजगार देना अमेरिकन कम्पनियों की नजर में सस्ता पड़ता है कि नहीं। लेकिन जहाँ उम्मीद यह की जाती हो कि शिक्षा हमारे अपने समाज को कुछ लौटाएगी, तब हमें इस बारे में बहुत सावधान होना होगा कि शिक्षा द्वारा दिए जाने वाले सामाजिक लाभों पर अधिक फीस का क्या प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, अगर हम एक बी.एड. कॉलेज को उच्च फीस लेते हुए बाजार-मॉडल के मुताबिक चलाने पर बल देते हैं, तो हम आशा कर सकते हैं कि उस कॉलेज से स्नातक होकर निकलने वाले विद्यार्थी बहुत महँगे निजी स्कूलों में अत्यधिक वेतन पर ही काम करना चाहेंगे। स्पष्ट ही है कि वे अपनी शिक्षा पर लगाए गए धन को वापिस हासिल करना चाहेंगे। लेकिन इससे यह समस्या भी खड़ी होगी कि ग्रामीण इलाकों में जाकर पढ़ाने को कौन तैयार होगा?

इसी तरह की समस्याओं के चलते बहुत लोग दलील देते हैं कि शिक्षा को तो एक सार्वजनिक सेवा होना चाहिए, न कि एक निजी सेवा या वस्तु। इस बारे में भी दलीलें दी जाती हैं कि किस तरह शिक्षा को बाजार की प्रक्रिया का हिस्सा बनाया जाए लेकिन उसे नियंत्रित करते हुए अधिकाधिक सामाजिक न्याय और कल्याण किया जा सके। दुर्भाग्य से परामर्श-दस्तावेज इस मुद्दे को सीधे तौर पर जाँचता या उस पर प्रतिक्रिया देता प्रतीत नहीं होता। विद्यार्थियों के लिए ऋण की बात की गई है (पृष्ठ 41) लेकिन बिना यह चर्चा किए, कि हम भारतीय शिक्षा का पहले से अधिक व्यापारीकरण करना, उसे एक वस्तु की तरह देखना चाहते हैं कि नहीं। बस इतना ही कहा गया है कि ऋणों को आसानी से उपलब्ध करवाया और सस्ता किया जाएगा। विद्यार्थियों के लिए ये ऋण दिया जाना अच्छी बात है भी कि नहीं, दस्तावेज में यह चर्चा का विषय है ही नहीं।

एक और बहुत ही मूल, सरल किस्म की समस्या है जिसे अर्थशास्त्र की अधिकतर परिचयात्मक पाठ्य-पुस्तकें स्वीकारती हैं मगर जिस जिक्र यह दस्तावेज नहीं करता। बाजार अन्तर्निहित तौर पर सामाजिक असमानता को बढ़ाने की ओर प्रवृत्त होते हैं। अगर शिक्षा भी बाजार की प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती है तो हम यह कैसे सुनिश्चित करेंगे कि वह भी एक ऐसी वस्तु न बन जाए जिसे गरीबों के मुकाबले अमीर अधिक आसानी से खरीद सकते हैं? परामर्श-दस्तावेज या तो इस बात के बारे में समझ नहीं रखता या इस पर उस का कोई रुख ही नहीं है। या फिर हम टिप्पणी के न होने को ही उस का रुख मान लें? हम अनुमान ही लगा सकते हैं।

इसका अर्थ है कि यहाँ विरोधाभासी आवाजें हैं। एक ओर तो यह कथन है कि पारिवारिक या सामाजिक पृष्ठभूमि चाहे जो भी हो, शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिए। दूसरी ओर बढ़ती हुई सामाजिक असमानता के खतरों के बारे में सोच-विचार किए बिना निजीकरण की वस्तुत: स्वीकृति है। उन सांस्कृतिक विकृतियों की भी कोई चर्चा नहीं है जो शिक्षा को एक वस्तु के रूप में देखने पर पैदा होती हैं, जब उसके सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक लाभ की बजाए उस से प्राप्त होने वाले वित्तीय लाभ को ध्यान में रखकर उसे हासिल करने की कोशिश होती है।

बेहतर होता अगर नीति के लिए दिए गए परामर्श इस सवाल से सीधे तौर पर रू-ब-रू होते। जिक्र किया जा सकता था कि परोपकारी और निजी हितधारकों का, अपना योगदान देने के लिए तब तक स्वागत है, जब तक कि उनकी गतिविधियों से सामाजिक असमानता में बढ़ोतरी न हो या गरीबों की कीमत पर लाभ उठाने की कोशिश न हो। कहा जा सकता था कि यह देश केवल इसलिए किसी को मौके देने से या सकारात्मक मदद देने से इनकार नहीं कर देगा क्योंकि उस का जन्म एक गरीब और समाज के हाशिए पर पड़े परिवार में हुआ। और यह भी कहा जा सकता था कि जिन क्षेत्रों का सांस्कृतिक एवं

नैतिक मूल्यों द्वारा निर्देशित होना आवश्यक है, उनमें शिक्षा को लाभ कमाने के तर्क के तहत संचालित नहीं होने दिया जाएगा। फिलहाल यह दस्तावेज इस बात का पर्याप्त ध्यान रखता प्रतीत नहीं होता कि इन मुद्दों को अस्पष्ट और संदिग्ध छोड़ने के क्या खतरे हैं।

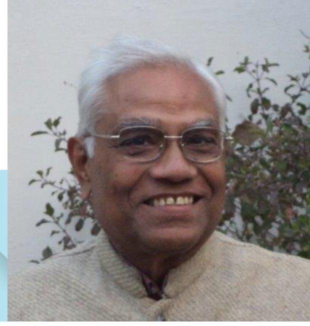
निष्कर्ष

इस तरह के दस्तावेज को किस तरह से देखा जाए? केवल एक 'सारभूत' चरित्र को चिह्नित करने के खतरों का तो पहले ही जिक्र किया गया है। वर्तमान दस्तावेज जैसा कि वह इस समय है, कुछ पुख्ता और प्रशंसा-योग्य सिफारिशें तो करता है। लेकिन कुछ तरह से वह स्वयं के विपरीत जाता भी लगता है। कई जगह वह अलग-अलग हितों द्वारा अलग-अलग तरह से व्याख्यायित होने के लिए स्वयं को ढलने योग्य बनाता भी दिखाई देता है। दस्तावेज के रचयिता उन कई सरोकारों के इर्द-गिर्द बहसों और अन्तरराष्ट्रीय अनुभवों से अवगत नहीं लगते जिन्हें वे दस्तावेज में उठाते हैं। जब इसकी तुलना 1986/1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति या उससे भी पुरानी, सम्माननीय कोठारी कमीशन रिपोर्ट तथा उसकी सिफ़ारिशों, उनकी कहीं अधिक समृद्ध दृष्टि तथा विभिन्न मुद्दों के चित्रण एवं प्रस्तुति से की जाती है, जो अपने समय के शोध एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों के बारे में सूचनाओं द्वारा बेहतर अनुप्राणित थे, तो यह दस्तावेज हमें दरिद्र दिखाई पड़ता है। इससे हमें चेतावनी मिलती है कि जब एक देश के शासक अकादमिक लोगों एवं विद्वता पर भरोसा करना छोड़ देते हैं तथा शिक्षा का प्रबन्धन प्रशासकों के माध्यम से करना चाहते हैं तो उसके परिणाम क्या होंगे।

अमन मदान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी के फैकल्टी सदस्य हैं। वे सामाजिक असमानता तथा अस्मिता की राजनीति के सवालों पर कार्य करते हैं। वे एकलव्य, दिगन्तर, ऐकॉर्ड आदि सहित कई गैर-सरकारी संगठनों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे amman.madan@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रमणीक मोहन

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के लिए शिक्षा आयोग

शरद चन्द्र बेहार



भारत सरकार ने 26 जनवरी, 2015 को एक नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाए जाने के लिए प्रक्रिया की शुरुआत की थी। कहा गया था कि भारत सरकार "लोगों की गुणवत्तापरक शिक्षा, नवाचार और अनुसंधान सम्बन्धी आवश्यकता के परिवर्तनशील पहलुओं से निपटने के लिए नई शिक्षा नीति लाना चाहती है, जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों को आवश्यक कौशल व ज्ञान प्रदान करके भारत को ज्ञान के क्षेत्र में महाशक्ति बनाना और विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा एवं उद्योग-जगत में श्रमशक्ति की कमी को दूर करना होगा।" जैसा कि खण्डन-मण्डन के लहजे में राजनीतिज्ञ करते ही हैं, यह ऐलान भी किया गया कि "पहली बार भारत सरकार धरातल पर समयबद्ध परामर्श की प्रक्रिया की शुरुआत कर रही है जिससे मानव संसाधन विकास मंत्रालय को 2.5 लाख से भी अधिक सीधे परामर्शों के माध्यम से देश भर में लोगों तक व्यक्तिगत पहुँच बनाने में मदद मिलेगी जबकि नागरिकों से ऑनलाइन प्रतिक्रियाएँ भी ली जाएँगी।" (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 2015)।

खण्डन-मण्डन को जारी रखते हुए पहले की शिक्षा नीतियों के बनाए जाने की प्रक्रिया की आलोचना यह कहते हुए की गई है कि उनका नजरिया 'ऊपर से नीचे का' था, जो 'धरातल पर काम करने वालों और हितधारकों से मिले सीमित फीडबैक पर निर्भर' था, परामर्श और सलाह-मशविरा 'मुद्दा-आधारित, और चर्चाएँ बिल्कुल अलग-थलग-पृथक खाँचों' में होते थे और इसके लिए '6 महीने से 3 साल तक का समय लिया जाता था'। इसके बरअक्स दावा यह था कि अब नीति-निर्धारण 'नीचे से ऊपर' , 'समयबद्ध' और 'समावेशी, सहभागिता व सम्पूर्णता के दृष्टिकोण' के साथ होगा (वही)।

नई शिक्षा नीति बनाने जैसे विषय के सन्दर्भ में खण्डन-मण्डन का नजरिया बुनियादी तौर पर समस्याग्रस्त है। इसमें स्वयं को दूसरे से बेहतर या अच्छा साबित करने का नजरिया झलकता है और पिछली नीतियों के प्रति पूर्वाग्रह का संकेत मिलता है। तर्कसंगत आशंका उत्पन्न होती है कि इस नई पहलकदमी के पीछे का उद्देश्य सच में गम्भीरता से ऐसी शिक्षा नीति विकसित करने का है जो एक दीर्घकालिक नीति के लिए उस सबको ध्यान में रखे जो ध्यान में रखे जाने की जरूरत है या फिर इसका उद्देश्य राजनीतिक है? जब हम ऊपर किए गए प्रत्येक दावे को जाँचते हैं तो इस आशंका को और अधिक बल मिलता प्रतीत होता है। लेकिन क्योंकि खण्डन-मण्डन का निशाना पहले की नीतियाँ हैं, आइये सर्वप्रथम हम स्वतंत्र भारत में नीति-निर्धारण के इतिहास पर एक संक्षिप्त नजर डालते हुए पहले की दो राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों पर विशेष ध्यान दें।

भारत में शिक्षा नीति के निर्धारण का संक्षिप्त इतिहास

स्वतंत्रता के बाद, और संविधान सभा द्वारा पूरी गम्भीरता से संविधान बनाए जाने की प्रक्रिया के दौरान भी, सरकार का ध्यान शिक्षा की ओर गया था। उस समय देश की औपनिवेशिक स्थिति के विरुद्ध जबरदस्त प्रतिक्रिया थी, जिसमें अभी हाल ही में परिवर्तन हुआ था। ऐसा महसूस किया गया था कि अँग्रेजों द्वारा भारत का केवल कच्चे माल के उत्पादक के तौर पर आर्थिक शोषण इसलिए सम्भव हो पाया था कि ब्रिटेन एक औद्योगिक अर्थव्यवस्था थी। इसलिए मुख्य बल आत्म-निर्भरता पर था, जिसके लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी और उच्च शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया था। तदनुसार, 1948 में डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालयी शिक्षा पर आयोग का गठन किया गया, जिसकी रिपोर्ट अगस्त, 1949 में आ गई। इसकी सिफारिशों को तो लागू किया गया था लेकिन उच्च शिक्षा पर कोई औपचारिक शिक्षा नीति नहीं बनाई गई।

1952 में डॉ. लक्ष्मणस्वामी मुदलियार की अध्यक्षता में एक और आयोग गठित किया गया, जिसने 1953 में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन एवं बेहतरी के लिए अपनी रिपोर्ट दी। एक बार फिर, अनुशंसाओं को तो लागू किया गया लेकिन औपचारिक नीति नहीं बनी।

आजाद भारत में पहली सम्पूर्ण, व्यापक नीति 1968 में शिक्षा आयोग (जिसे आमतौर पर कोठारी आयोग के नाम से जाना जाता है) की अनुशंसाओं के आधार पर बनी। यह आयोग 1964 में गठित किया गया था। इसमें विदेशी विशेषज्ञों समेत 15 सदस्य थे जिनमें अध्यक्ष प्रो. डी.एस. कोठारी, सदस्य सचिव जे.पी. नाइक और युनेस्को से लिए गए एक सहायक सचिव शामिल थे। 12 कार्य-दल बनाए गए, जिन्हें विशेष

मुद्दों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए कार्यकारी समूहों और उपसमूहों में बाँटा गया। इनमें विदेशों से 20 परामर्शदाता भी थे। इन समूहों की राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री, मुख्य-मंत्रियों, और भारत सरकार व राज्य सरकारों के विभिन्न मंत्रालयों के सचिवों समेत कई शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, संसद एवं राज्य-विधानसभाओं के सदस्यों, उद्योगपतियों और पत्रकारों के साथ लाभदायक चर्चाएँ और बैठकें हुईं।

1966 में कमेटी द्वारा अपनी रिपोर्ट जमा करवाए जाने के बाद भारत सरकार ने इसका सार प्रकाशित किया और एक बार फिर हितधारकों एवं संसद सदस्यों के साथ व्यापक परामर्श किया। लम्बी चर्चाओं के बाद मंत्रीमण्डल द्वारा मसौदा अनुमोदित कर 1968 में जारी कर दिया गया (नाइक, 1997)।

1977 में पहली गैर-काँग्रेस सरकार द्वारा दूसरी शिक्षा नीति बनाने की एक नाकाम कोशिश हुई। 'हमारे लोगों की शिक्षा' के शीर्षक की रिपोर्ट 'लोगों की, लोगों के लिए, लोगों द्वारा शिक्षा' की समझ पर आधारित थी और 1968 की नीति से बहुत ही अलग थी। 1979 में नीति का प्रारूप तैयार किया गया लेकिन जनता सरकार में आन्तरिक मतभेदों के चलते यह पहल आगे नहीं बढ़ सकी।

1986 की राष्ट्रीय नीति के लिए एक अलग प्रक्रिया अपनाई गई। अगस्त, 1985 में 'शिक्षा की चुनौतियाँ' शीर्षक से एक दस्तावेज कई भाषाओं में सोच-विचार और प्रतिक्रियाओं के लिए जारी किया गया। यह देखने लायक बात है कि दस्तावेज सरकार की असफलताओं और आगे आने वाली विशाल चुनौतियों के बारे में बहुत ही ईमानदारी से बात करता है। लेकिन इसमें सोच-विचार-चर्चाओं और अनुशंसाओं की कोई हदें तय नहीं की गई थीं। देशव्यापी बहसों, चर्चाओं, सोच-विचार, सम्मेलनों, गोष्ठियों और परामर्शों के नतीजों ने संसद में प्रस्तुत की गई नीति के मसौदे के लिए सुझावों का काम किया। इसके बाद प्रक्रिया शुरू होने के एक साल के भीतर 1986 में नीति को अन्तिम रूप दिया गया।

लेकिन यह भी वह अन्तिम नीति नहीं है जो हमारे सामने है। नीति को जारी किए जाने के कुछ ही समय बाद काँग्रेस पार्टी आम चुनावों में पराजित हुई और वी.पी.सिंह के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार बनी। नई सरकार ने आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में नीति पर पुनर्विचार के लिए कमेटी गठित की। इस कमेटी की सिफारिशों को गम्भीरता से लिया जाता तो एक बिल्कुल ताजा शिक्षा नीति की आवश्यकता रहती या कम से कम काफी हद तक संशोधन होता। लेकिन मिली-जुली सरकार गिर गई और नए चुनाव में काँग्रेस के नेतृत्व में एक और मिली-जुली सरकार आ गई। आचार्य राममूर्ति कमेटी की रिपोर्ट की जाँच के लिए श्री वीरप्पा मोएली की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। 1986 की शिक्षा नीति काँग्रेस सरकार द्वारा तैयार की गई थी, जो अब फिर से सत्ता में आ गई थी, इसलिए यह कदम एक औपचारिकता भर था, और बस कुछेक छोटे बदलावों की सिफारिश की गई। इन संशोधनों को अन्तत: संसद ने 1992 में पारित कर दिया। इसीलिए तकनीकी तौर पर इसे शिक्षा की राष्ट्रीय नीति, 1986 (संशोधित 1992) कहा जाता है।

ध्यान देने की बात है कि हालाँकि 1968 और 1986, दोनों शिक्षा नीतियों का अनुमोदन या तो किसी संसदीय कमेटी द्वारा या फिर स्वयं संसद द्वारा किया गया था, दोनों को ही एक और नीति के द्वारा बदल दिए जाने का खतरा था, लेकिन वे बाल-बाल बच गईं। इससे शिक्षा नीतियों की राजनीतिक तौर पर अस्थिर प्रकृति उजागर होती है।

नीति बनाने की मौजूदा प्रक्रिया की पड़ताल

अब हम इन दावों की पड़ताल करते हैं कि मौजूदा प्रक्रिया तीन वजहों से बेहतर है : कि यह मुद्दा-आधारित और अलग-थलग-पृथक खाँचों में होने की बजाए व्यापक और सम्पूर्ण है, नीचे से ऊपर को चलती है और समयबद्ध है।

पहले दो दावों की काट तो इस बात से हो जाती है कि परामर्श के लिए 33 मुख्य विषय-बिन्दुओं (13 स्कूली शिक्षा पर और 20 उच्च शिक्षा पर) का खाका खींचा गया है – इसके निहितार्थ हैं कि परामर्श विषय-आधारित है न कि सम्पूर्णता में। जब केन्द्रीय स्तर से धरातल पर काम करने वालों को सीमित, संकुचित विषय दिए जाते हैं जिससे वे विशेष पहलुओं से सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं से बँधे रहते हैं तो इस नजरिए को नीचे से ऊपर जाने वाला नहीं कहा जा सकता। पिछली नीतियों से पहले व्यापक परामर्श और मशविरों को ध्यान में रखें तो यह दावा भाषणबाजी अधिक लगता है।

आइये, अब समयबद्ध प्रक्रिया होने के दावे को देखें। नई शिक्षा नीति के विकसित होने की प्रक्रिया के पूरे होने के लिए 2015 के अन्त का समय तय किया गया था। अप्रैल, 2017 के मध्य तक भी नीति अपने अन्तिम रूप में कहीं दिखाई नहीं दे रही। स्पष्ट है कि नीति बनाए जाने की प्रक्रिया का समयबद्ध तरीके से काम करने का दावा भी सही नहीं है। यानी वर्तमान प्रक्रिया परामर्श-सम्बन्धी भूतपूर्व प्रक्रियाओं से बेहतर या विशिष्ट है, इससे सम्बद्ध तीनों दावे खरे नहीं उतरते। इसके अलावा यह दर्शाने के लिए भी प्रमाण मौजूद हैं कि लागू किए जाने की बात तो छोड़िए, परामर्श की प्रक्रिया का डिजाइन ही तीनों दावों पर खरा नहीं उतरा। आइये, इस प्रक्रिया पर एक नजर डालते हैं।

परामर्श की औपचारिकता व रस्म अदायगी और समय सीमा पर जोर देने के परिणामस्वरूप ग्राम पंचायत स्तर के परामर्श व्यवस्थाबद्ध एवं कड़े नियन्त्रण में हुए। जिन्हें ग्रामीण लोगों और गाँव, खण्ड व कुछ हद तक जिला के स्तर पर जमीनी काम करने वाले कार्यकर्ताओं और जन प्रतिनिधियों को सुनने का अनुभव है, वे उनकी अभिव्यक्ति की शैली से परिचित होंगे – ये स्वयं के अनुभवों और अप्रासंगिक मुद्दों से बात शुरू कर के धीरे-धीरे उन गम्भीर और असली मुद्दों पर आते हैं जिन पर वे बल देना चाहते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि उनका ज्ञान और सीखना अनुभव-आधारित होता है – इसीलिए वे शुरुआत अपने अनुभव से करते हैं और उसके बाद उससे प्राप्त अन्तर्दृष्टि तक जाते हैं। उन्हें सीमित मुख्य विषयों और प्रौद्योगिकी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए चंद शब्दों तक सीमित कर दिया जाना इस दावे से मेल नहीं खाता है कि परामर्श अलग-थलग-पृथक तरीके से नहीं हुआ और नीचे से ऊपर की गति में हुआ।

जहाँ तक 20 जनवरी, 2015 से 30 अप्रैल, 2015 (तारीख बाद में आगे सरका दी गई) तक ऑनलाइन परामर्श की बात है, यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से ही सीमित करने वाली है क्योंकि इसके लिए तकनीकी ज्ञान और सुविधा का होना आवश्यक है।

नई शिक्षा नीति का मसौदा तैयार करने के लिए एक कमेटी का गठन अक्तूबर, 2015 में किया गया था, लेकिन इसके नाम को बदल कर 'नई शिक्षा नीति विकसित करने के लिए एक कमेटी' कर दिया गया। यह स्पष्ट था कि मंत्रालय कमेटी द्वारा सिफारिश किए जाने वाले मसौदे से अलग एक मसौदा तैयार करने की स्वतंत्रता अपने पास रखना चाहता था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट मई, 2016 में जमा करवा दी लेकिन सरकार ने उसे सार्वजनिक करने से इनकार कर दिया। अध्यक्ष और मानव संसाधन विकास मंत्री के बीच गहरे मतभेद थे और विवाद भी, जिससे बचा जा सकता था। रिपोर्ट को औपचारिक तौर पर सार्वजनिक नहीं किया गया है, हालाँकि अध्यक्ष ने उसे खुले मन से साझा किया है और वह न्यूपा (एन.यू.ई.पी.ए.) की वैबसाइट पर उपलब्ध है।

इसके बाद, जून, 2016 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा एक दस्तावेज जारी किया गया जिसे मसौदा कहे जाने में अब भी हिचकिचाहट थी और इसे 'प्रस्तावित शिक्षा नीति के लिए कुछ इनपुट्स' का नाम दिया गया। इस दस्तावेज पर प्रतिक्रियाएँ और सुझाव सितम्बर, 2016 के अन्त तक माँगे गए। इस अन्तिम तिथि को एक महीना और आगे तक कर दिया गया। नौकरशाहों बनाम शिक्षाविदों की राजनीति तब उभर कर आई जब नए मानव संसाधन विकास मंत्री ने ऐलान किया कि मसौदा तैयार करने के लिए शिक्षाविदों की एक कमेटी का गठन किया जाएगा। यह कमेटी अभी बननी है।

इस प्रक्रिया के दौरान का सम्पूर्ण घटनाक्रम शपीरो एवं अन्य के इस विचार को स्वीकार करने के लिए काफी आधार प्रदान करता है कि इस प्रकार की परामर्श-प्रक्रियाएँ 'प्रभुत्वशाली ताकत को वैधता प्रदान करने से अधिक कुछ नहीं हैं' (मैक्कॉनेल, 2010)। शिक्षाविदों की नई कमेटी बन भी जाती है तो इसमें देश का विश्वास बनने की सम्भावना कम ही है क्योंकि यह भी पहले वाली ही दिशा में लिया गया एक और कदम दिखाई देगा।

इस परिदृश्य में इस अपरिहार्य निष्कर्ष को नकारना मुश्किल लगता है कि कमेटी और मंत्रालय द्वारा साझा किए गए ये दोनों दस्तावेज मार्शल, मिचल एवं वर्ट (1991) द्वारा 'कल्पित-संसारों' में स्थित हैं। लेखक इस धारणा को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं : "प्रत्येक राज्य के नीति-निर्माण परिदृश्य में स्पष्ट तौर पर भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ होती हैं। नीति-निर्माता इन संस्कृतियों में समाजीकृत होते हैं व इनके

साथ सही और उपयुक्त की साझा समझ रखते हैं। राज्य के नीति-वातावरण की विशिष्ट-प्रकृति की संस्कृतियाँ प्रत्येक राज्य में प्रमुख कर्ताओं के बोध को प्रभावित करती हैं। ये बोध नीति सम्बन्धी सुसंगत विकल्पों, अपेक्षित व्यवहारों और रीतियों से सम्बद्ध होता है। बोध के इस पर्दे को हम 'नीति-निर्धारकों के कल्पित संसारों' के रूप में व्याख्यायित करते हैं।' लेखक, यंग को उद्धृत करते हुए नीति-निर्धारकों के कल्पित संसारों की व्याख्या 'जिस वातावरण में काम किया जाता है, उसकी आत्मनिष्ठ समझ' के रूप में करते हैं, जिसमें 'मौजूद यथार्थ के प्रतिक्रियास्वरूप विश्वास, बोध, मूल्यांकन व मंशा के परस्पर मिश्रित कई तत्व' शामिल रहते हैं। सम्भावना यही है कि सरकार यानी प्रभुत्वशाली शक्ति द्वारा बनाई गई कोई भी कमेटी अपनी मान्यताओं, बोध और विचारधाराओं के आधार पर नीति बनाएगी और इसमें राष्ट्रीय आम राय की कम ही झलक मिलेगी।

यह वृत्तान्त इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह नीति के बन्द कमरों में बनने की अफवाहों के लिए एक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। समस्या सरकार द्वारा अपनी इच्छा की शिक्षा नीति विकसित करने में नहीं है। लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गई सरकार को न केवल अधिकार है बल्कि उसका दायित्व भी है कि वह अपनी घोषित विचारधारा के अनुरूप चले। इस सामान्य सिद्धान्त को मानते हुए मौजूदा सरकार को पूरा अधिकार है कि वह अपनी विचारधारा की संगति में शिक्षा नीति बनाए, बशर्त कि वह इस बात के लिए तैयार है कि उसके सपनों के भविष्य के समाज की परिकल्पना को शामिल करने वाली नीति अन्य पार्टियों के सत्ता में आने पर एक अलग तरह के समाज की परिकल्पना वाली उनकी नीति के लिए स्थान छोड़ देगी। यदि ऐसा वे खुले तौर पर करें तो लुके-छिपे तरीके से कुछ करने की कोशिश को लेकर उनकी आलोचना न हो। लेकिन इसके बजाय वे एक समावेशी, सहभागी, सम्पूर्णता लिए हुए, नीचे से ऊपर की ओर जाने वाले नजरिए का अनुकरण करने की घोषणा कर रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं, और यह सार्वभौमिक तौर पर माना जाता है, कि शिक्षा कई तरह से समाज और राज के किसी भी अन्य क्षेत्र से अलग है। इसलिए शिक्षा नीति के निर्माण के लिए एक अलग नजरिए की जरूरत होती है।

अब तक हुई चर्चा के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

1. शिक्षा के नीति-निर्माण का बहुत अधिक राजनीतिकरण हुआ है। यह एक समस्या है क्योंकि एक औसत राजनीतिज्ञ पर्याप्त हद तक 'शिक्षा में साक्षर' नहीं होता। क्योंकि 'राजनीतिज्ञों और शिक्षाविदों में बहुत ही कम संवाद' रहता है (नायक, 1997)। शिक्षा का इतना ऊँचे दर्जे का राजनीतिकरण केवल भारत तक सीमित नहीं है; ओल्सन एवं अन्य (2004) के मुताबिक 'एक वक्त था जब शिक्षा नीति को एक नीति के तौर पर महत्व ही नहीं दिया जाता था ..... स्पष्ट है कि अब ऐसा नहीं है। आज शिक्षा नीतियाँ काफी विवाद और सार्वजनिक संघर्ष के केन्द्र में हैं.....। शिक्षा नीति के निर्माण का अत्यधिक राजनीतिकरण हो गया है' (बेल एण्ड स्टीवन्सन, 2006 से उद्धृत)।
2. शिक्षा की राष्ट्रीय नीति का किसी विशेष विचारधारा के आधार पर बनाया जाना राष्ट्रहित में नहीं है। यह राष्ट्रीय आम राय पर आधारित होनी चाहिए। भारत का संविधान समकालीन राष्ट्रीय आम राय को प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए नई शिक्षा नीति के लिए इसे ही निर्देशक सिद्धान्त और कम्पास (दिक्सूचक) का काम करना चाहिए।

सीधा सबक यह है कि नई शिक्षा नीति का बनना अपने आप में एक बहुत ही जटिल, समय लेने वाली, बहुआयामी, कई परतें लिए हुए, चिन्तनशील, और बहुत ही बौद्धिक प्रक्रिया है। इसके बहुत ही गहरे, व्यापक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अर्थ हैं जिनके बारे में पहले से कुछ कहा नहीं जा सकता। इस विशाल कार्य के साथ न्याय करने के लिए इसके सिवा कोई विकल्प नहीं है कि सभी विचारधाराओं के लोगों को सम्मिलित करते हुए एक शिक्षा आयोग गठित किया जाए ताकि राष्ट्रीय आम राय को विश्वसनीयता के साथ प्रतिबिम्बित किया जा सके।

21वीं सदी के लिए शिक्षा नीति का निर्माण

20वीं सदी के अन्तिम दशकों को छोड़ दें तो सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के लिए ढाँचा प्रदान करने

वाले और व्यापक तौर पर दुनिया के आदर्शों व आकांक्षाओं को अपने रंग में भिगोने वाले प्रभावी एवं प्रतिस्पर्द्धी दर्शनों को हम मोटेतौर पर लोकतांत्रिक उदारवाद के साथ-साथ एक कल्याणकारी राज्य और अलग-अलग रंगों के समाजवाद के चौखटे में रख सकते हैं। बहुत व्यापक रूप में देखें तो भारतीय संविधान को लोकतांत्रिक उदारवाद और कल्याणकारी राज्य की परम्परा में अवस्थित किया जा सकता है जिसके साथ ही साथ समाजवाद को संयोजित करने की एक कोशिश की गई है; और भी अधिक सटीक व्याख्या शायद फेबियन समाजवाद की होगी। यह कहना शायद बहुत गलत न होगा कि कोठारी आयोग की रिपोर्ट मोटे तौर पर इसी दार्शनिक चौखटे में थी और इसलिए उसमें से निकलने वाली 1968 की नीति उसी में जड़बद्ध थी।

1986 की नीति और 1968 की नीति के साथ उसके रिश्ते का गहरा अध्ययन हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि दोनों के दर्शनशास्त्रीय और विचारधारात्मक आधार एक से हैं, यानी लोकतांत्रिक उदारवाद, कल्याणकारी राज्य की अवधारणा और काफी हद तक समाजवाद का संयोजन। 1986 की नीति कई तरह से व्यापक दर्शनशास्त्रीय और सैद्धान्तिक स्तर पर 1968 की नीति का पुन: साक्षात्कार करवाती प्रतीत होती है - अभिपुष्टि के लिए, न कि बदलाव के मकसद से।

बीसवीं सदी के अन्त के समीप एक फलती-फूलती समाजवादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के ठोस उदाहरणों को एक धक्का लगा जिससे दर्शन की इस विधा पर सवाल उठे और एक बहस छिड़ी जो अब तक भी जारी है। इसी समय उदारवाद में भी एक बदलाव नव-उदारवाद के रूप में सामने आया जिसके साथ ही नव-पूँजीवाद और नव-उपनिवेशवाद भी आया। इस परिदृश्य को अकसर निजीकरण और उदारवाद के साथ भूमण्डलीकरण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है।

अधिकतर चिन्तक और विवेकी पर्यवेक्षक इस बात पर सहमत हैं कि भारत के शासक-वर्ग ने भारत की अर्थव्यवस्था को नई वैश्विक व्यवस्था में जड़ने की रणनीति को बजाहिर पूरे मन से अपना लिया है, फिर चाहे कोई भी राजनीतिक दल सत्ता में क्यों न हो। काफी संख्या में बुद्धिजीवी, जागरूक नागरिक, सामाजिक कार्यकर्ता एवं राजनीतिक नेता इस रुझान का सख्त विरोध करते हैं लेकिन अब तक इनकी संख्या इतनी नहीं है कि नीति को प्रभावित कर सकें।

शिक्षा नीतियाँ शून्य में नहीं बनाई जातीं बल्कि राष्ट्रीय लक्ष्यों, अभिलाषाओं, जरूरतों और सपनों में जड़ी होती हैं। मौजूदा स्थिति में जब एक ओर संविधान के जरिए घोषित लक्ष्यों और दूसरी ओर व्यवहार में लागू की जाने वाली नीतियों एवं कार्यक्रमों में इतनी चौड़ी दरार है, तो शिक्षा नीति का उद्गम क्या माना जाए?

आजाद भारत में दीर्घकालीन शिक्षा नीतियाँ किसी न किसी आयोग की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई हैं। उच्च शिक्षा पर पहली नीति, हालाँकि उसे औपचारिक तौर पर राष्ट्रीय नीति के रूप में घोषित नहीं किया गया था, डॉ. राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशों पर आधारित थी। उसका प्रभाव अब भी महसूस किया जाता है। इसी तरह माध्यमिक शिक्षा पर दीर्घकालीन नीति और उसका बड़े पैमाने पर पुनर्गठन डॉ. मुदलियार आयोग की सिफारिशों पर आधारित था। जैसा कि 1989 में सकरोपूलोस ने कहा था, औपचारिक नीतियाँ न बनाए जाने का एक कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि 'बीस साल पहले जिसे शैक्षिक आयोजना कहा जाता था, शिक्षा नीति शायद उसी का समकालीन पर्याय है'(ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)।

ऊपर की चर्चा को ध्यान में रखें तो शिक्षा आयोग के गठन की सिफारिश के लिए दिए गए कारण बाध्य करने वाले हैं। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि आयोग का गठन सोचते-समझते हुए इस तरह से हो कि समकालीन दौर की राजनीति से अति-प्रभावित दुनिया में विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व हो पाए, ताकि उसकी रिपोर्ट राष्ट्रीय आम राय का सही और उचित प्रतिबिम्ब होने का दावा कर सके। आयोग को पर्याप्त समय देना चाहिए ताकि सोच-विचार, अध्ययन, लम्बे और व्यापक परामर्श के बाद वह देश के सामने एक रिपोर्ट रखे जिस पर आगे और भी विमर्श हो।

ऐसे आयोग का पहला कदम शिक्षा के मौजूदा परिदृश्य को प्रस्तुत करने वाले तार्किक दस्तावेज के रूप में होना चाहिए जिसमें 1992 में संशोधित 1986 की नीति की विषयनिष्ठ और

समावेशी समालोचना, देश और मानवता के समक्ष चुनौतियाँ, आदर्श विश्व-समुदाय और भारतीय समाज का हमारा लक्ष्य, शिक्षा की परिकल्पित भूमिका और उसके लिए आवश्यक नीति-परिदृश्य शामिल हों। जैसे कि डॉबिनसन सुझाते हैं, "शिक्षा को मानवता के समक्ष बड़ी से बड़ी समस्याओं को सुलझाने में अपनी उचित भूमिका निभाने का प्रयास करना चाहिए" (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। नीति को इस कोशिश के सामंजस्य में होना चाहिए।

शिक्षा और समाज के लिए सबसे निर्णायक एवं मुख्य मुद्दों को चर्चा, वाद-विवाद और सुझावों के लिए खुला रखा जाना चाहिए। इन्हें अलग-अलग तरह से चिह्नित किया गया है – शिक्षा और मानव पूँजी, विश्व-नागरिकता और राष्ट्रीय पहचान, स्वायत्तता, जवाबदेही और विकल्प, या नीति-विषयों के तौर पर सबसे ऊपर रखे जाने वाले समानता और समता के मुद्दे। "सामाजिक स्तरीकरण को बनाए रखने में राज्य की हेर-फेर वाली भूमिका" को ध्यान में रखते हुए सामाजिक असमानता को भी एक महत्त्वपूर्ण विषय के तौर पर सुझाया गया है (बेल एवं स्टीवन्सन, 2006)। शिक्षार्थियों की बदलती और व्यापक होती जरूरतों को ध्यान में रखने वाली नई रणनीतियाँ, सामाजिक-आर्थिक शैक्षिक असमानताएँ, शैक्षिक गुणवत्ता, शिक्षा और संस्कृति में सामंजस्य एवं सुसंगतता,अन्तरराष्ट्रीय सहयोग, वयस्क शिक्षा के प्रति नए दृष्टिकोण आदि साहित्य की समीक्षा से निकलने वाले मुख्य विषयों में से कुछेक विषय हैं (ज़ाजदा, 2002)। ये सब नीति-निर्माण में निश्चित तौर पर बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण हैं।

पिछली नीति को बने 30 साल से भी अधिक हो गए हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं तो वे कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जिनकी वजह से इन विषयों पर विचार किया जाना चाहिए – 21वीं सदी में बनने वाली पहली नीति को युगप्रवर्तक होना होगा, खेल के स्वरूप को बदलने वाला होना होगा। किसी भी नई शिक्षा नीति को विवादों, विरोधाभासों और वैचारिक संघर्षों से भरे इस परिदृश्य का सामना करना होगा। इन अत्यधिक जटिल और कई परतों वाले बुनियादी मुद्दों पर स्पष्ट दृष्टि के बिना कोई भी अर्थपूर्ण शिक्षा नीति नहीं बन सकती।

नीति के लिए आम राय बनाना

एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आम राय विकसित करने के सन्दर्भ में ब्रोड्बेल्ट सुझाते हैं कि जब एक देश के नीति-सम्बन्धी लक्ष्यों में 'मिथक और तथ्य' सहमति में होते हैं, तब ही वह देश 'अपनी आदर्श शिक्षा व्यवस्था' तक पहुँचता है (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। विभिन्न देशों की संस्कृतियों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर एक गहरी टिप्पणी करते हुए मितर सावधान करते हैं कि 'आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक भूमण्डलीकरण के वर्तमान रुझानों और इसके बरअक्स सांस्कृतिक विविधता के प्रति नवजागृत जागरूकता' से शिक्षा के लिए नई अनिवार्य आवश्यकताएँ और नतीजे निकले हैं। वर्तमान और भविष्य 'सार्वभौमीकरण और सांस्कृतिक बहुलतावाद' के सन्दर्भ में '[एक ओर] विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त के सन्देशों और [दूसरी ओर] सांस्कृतिक विविधता को मानव-इतिहास की एक स्थाई संरचना मानने वाले सिद्धान्तों के बीच' एक लाभदायक सन्तुलन ढूँढना होगा (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। ये दोनों विराट एवं दुःसाध्य काम – एक ओर तो संविधान द्वारा आदेशित लक्ष्यों और सामाजिक व्यवस्था के मिथक एवं सरकारों द्वारा दी जा रही असंगत नीतियों के तथ्य का एक जगह आकर मिलना, और दूसरी ओर सार्वभौमीकरण एवं सांस्कृतिक विविधता के बीच सन्तुलन बैठाना – तब ही किए जा सकते हैं जब हर तरह की राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों से लैस एक सही अर्थों में शक्ति-सम्पन्न शिक्षा आयोग बने, जो वास्तव में राष्ट्रीय आम राय को प्रतिबिम्बित करे।

मक्कॉनल सुझाते हैं कि 'नीति के नतीजे अक्सर' सफलता और असफलता के दो बिल्कुल सिरे के छोरों के बीच और 'सफलता, लचीली सफलता, संघर्षशील सफलता, डाँवाँडोल सफलता और असफलता के वर्णक्रम के साथ-साथ होते हैं।' वे यह भी कहते हैं कि मूल्यांकन यह 'चिह्नित करने के लिए होना चाहिए कि किन बातों को तो और मजबूत किया जा सकता है और किन कमियों को दूर करने की जरूरत है।' अन्तर्दृष्टि से पूर्ण इस बहुत ही दिलचस्प टिप्पणी के साथ कि 'असफलता सफलता का दर्पण-प्रतिबिम्ब है', निर्णय लेने का मुख्य मानदण्ड इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि

अगर निर्धारित 'लक्ष्य पूरे नहीं होते तो नीति असफल है।' राजनीतिक कारणों के चलते सरकारों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनका मूल्यांकन और विश्लेषण वस्तुपरक होगा। इसके अलावा, समालोचना पर राष्ट्रीय आम राय भी होना होगी और इसके लिए सभी हितधारकों के साथ परामर्श की वाजिब प्रक्रिया भी आवश्यक है। इस वजह से स्थिति और भी अधिक जटिल हो जाती है कि शिक्षा नीति के विकसित होने का समयकाल लम्बा होता है। यदि हम प्राइमरी-पूर्व और माध्यमिक शिक्षा को शामिल करें और उच्च शिक्षा को छोड़ दें तो एक ही दस्ते के सहचर बच्चों पर शिक्षा नीति के प्रभाव के मूल्यांकन के लिए कम से कम 14 साल का समय चाहिए। इससे भी अधिक संख्या में बच्चों पर इसका असर देखने के लिए तो और भी अधिक समय की दरकार होगी। ऐसा काम एक व्यापक आधार वाले आयोग द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

मक्कॉनल (2010) नीति-मूल्यांकन के लिए मानदण्ड साझा करते हैं और मूल्यांकन की भूमिका और प्रक्रियाओं पर समकालीन रचनाओं को उद्धृत करते हैं। एक बड़े, पूर्ण-विकसित आयोग से ही यह आशा की जा सकती है कि वह नीति पर हर तरह के सैद्धान्तिक और अनुभवपरक काम को अपने दायरे में लेते हुए पिछली नीति को मूल्यांकित करेगा और एक अधिक विश्वसनीय नीति बनाएगा।

ऐसी समालोचना को वर्तमान वैश्विक एवं राष्ट्रीय परिस्थिति व रुझानों के समग्र और स्पष्ट विश्लेषण में अवस्थित करना होगा, जिसके आधार पर शिक्षा नीति के सामने आने वाले भविष्य के विभिन्न सम्भावित परिदृश्यों का निर्माण होना होगा, और इससे भी महत्त्वपूर्ण उस परिदृश्य की रूपरेखा है जिसमें प्रस्तावित नीति का योगदान रहेगा।

एक और बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि 21वीं सदी में शिक्षा की राष्ट्रीय नीति बनाने के लिए वैज्ञानिक प्रमाण, अनुसंधान-आधारित ज्ञान, अनुभवपरक अध्ययन और सफल प्रयोगों से हासिल सबक, कार्यक्रमों, मार्गदर्शी प्रोजेक्टों और गहनता से किए गए प्रयोगों-परीक्षणों को वस्तुपरक तरीके से मूल्यांकित किया जाना और ध्यान में रखना होगा। यह तब ही हो सकता है अगर तथ्यों के संग्रहण, मिलान, समीकरण और उनसे नीतियाँ बनाने के लिए एक व्यापक आयोग हो।

कई विषय-क्षेत्रों में ज्ञान का एक बहुत बड़ा भण्डार है जिसके शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर दूरगामी निहितार्थ हो सकते हैं। बाइबर (2012) इस ओर इशारा करने में बहुत सही हैं कि अन्य के मुकाबले कुछ विषय-क्षेत्र नजरों में अधिक रहते हैं जबकि कई विषय-क्षेत्रों से सम्बद्ध अदृश्य-बिन्दु महत्त्वपूर्ण तरीके से नीति-निर्माण में योगदान दे सकते हैं। न्यूरो-साइंसिस, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सामाजिक-जीवविज्ञान एवं कई अन्य विषय-क्षेत्र काफी आगे तक विकसित हुए हैं और उस नए शैक्षिक आदर्श के लिए नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं जो नीति द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए। एक सही तौर से लैस शिक्षा आयोग ही इनसे और दर्शनशास्त्र, नैतिकशास्त्र, ज्ञानशास्त्र आदि से कुछ न कुछ ग्रहण करते हुए शोध एवं प्रमाण-आधारित शिक्षा नीति का वैज्ञानिक सोच के साथ निर्माण कर सकता है।

आज की अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धात्मक दुनिया में विभिन्न देशों की राष्ट्रीय नीतियों से लाभदायक अन्तर्दृष्टियाँ मिल सकती हैं। हाल्पिन और ट्रोएना (1995) अन्धानुकरण के विरुद्ध चेतावनी देते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि 'किसी अन्य देश के नीति-समाधानों के कुछ चिह्नित हो सकने वाले पहलुओं में से कुछ उधार लेने की बात, जिसमें उन्हें लागू करने के तरीके शामिल हों, तब अधिक मुमकिन है जब विभिन्न शिक्षा व्यवस्थाओं की विशेषताओं और सुधार की हिमायती प्रभुत्वशाली राजनीतिक विचारधाराओं के बीच कुछ सामंजस्य हो।' सावधानीपूर्वक मूल्यांकन और सामंजस्य बैठाते हुए अनुकूलन के लिए समय और एक शक्ति-सम्पन्न आयोग की आवश्यकता रहती है।

अब जबकि प्रक्रिया रुकी ही हुई है तो यह बहुत ही उचित होगा कि भारत सरकार 21वीं सदी का पहला शिक्षा आयोग स्थापित करने के बारे में गम्भीरता से सोचे, जिसमें कुछ विदेशी विशेषज्ञों के अलावा हर तरह के विचार और नजरिए के लोग हों। शिक्षा के अति महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को केवल शिक्षाविदों या अफसरों के सहारे छोड़ना सही नहीं होगा, फिर वे कितने ही प्रतिष्ठित क्यों न हों।

निष्कर्ष

एक व्यापक आधार वाला शिक्षा आयोग 21वीं सदी में एक ऐसी शिक्षा नीति की बुनियाद के लिए आवश्यक है, जो नई

वैश्विक होती आर्थिक व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप हो – या फिर उसके विरोध में हो। इसी प्रक्रिया में वह या तो नवउदारवादी दर्शन में निहित मूल्यों के संयोजन एवं वैश्वीकरण में उसकी ठोस अभिव्यक्ति को और संवैधानिक मूल्यों एवं उद्देश्यों को रचनात्मक रूप से निर्मित करेगी या उनमें से एक को रद्द करेगी।

मेरा मानना है कि बुद्धिमता का पलड़ा भारी रहेगा और विचारधारात्मक पूर्वाग्रह वाली शिक्षा नीति का अचानक उभार नहीं होगा। अधिक सम्भावना तो शायद यही है लेकिन अगर यह उभार होता है तो यह जानने के लिए सूचना के अधिकार का खुले तौर पर प्रयोग होना चाहिए कि नीति और हितधारकों द्वारा अभिव्यक्त उन विचारों के बीच का क्या रिश्ता है, जिन्हें हासिल किए जाने के बारे में सरकार द्वारा दावा किया जाता है। यह लगभग पक्का है कि उन दोनों के बीच या तो कोई रिश्ता होगा नहीं और अगर होगा भी तो बहुत ही विरल और इकहरा होगा, जिससे लोग सवाल उठा पाएँगे कि यह राष्ट्रीय आम राय से भिन्न क्यों है। साथ ही वे एक व्यापक आधार वाले आयोग के हक में दलील दे पाएँगे, जिसके लिए ऊपर दृढ़ता से बात रखी गई है।

Bibliography

1. Naik, J.P. (1997). The Education Commission and after. Delhi: APH Publishing Corporation
2. MHRD (2015). Manual for grass-root level consultation on new education policy. New Delhi: Ministry of Human Resource Development
3. McConnell, A. (2010). Policy success, policy failure and grey areas in-between. Journal of Public Policy, Vol. 30, No. 3, pp. 345-362
4. Marshall, C., Mitchell, D.E., Wirt, F. (1991). Assumptive worlds of education policy makers. Peabody Journal of Education, Vol. 62, No. 4, pp. 90-115
5. Bell, L. and Stevenson, H. (2006). Education Policy: Process, Themes and Impact. London: Routledge
6. Zajda, J. (2002). Education and policy: Changing paradigms and issues. International Review of Education, Vol. 48, No. 1/2, pp. 67-91
7. Biber, E. (2012). Which science? Whose science? How scientific disciplines can shape environmental law. The University of Chicago Law Review, Vol. 79, No. 2, pp. 471-552
8. Halpin, D., Troyna, B. (1995). The politics of education policy borrowing. Comparative Education, Vol. 31, No. 3, pp. 303-310

शरद चन्द्र बेहार अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के सदस्य हैं। वे मध्य प्रदेश सरकार के भूतपूर्व मुख्य सचिव हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र से गहरे तौर पर जुड़े रहे हैं और शिक्षा, सार्वजनिक प्रशासन एवं अन्य सामाजिक सरोकारों पर उनके 150 से अधिक आलेख प्रकाशित हुए हैं। वे शैक्षिक शोध एवं नवाचारी कार्यों के क्षेत्र में सक्रिय स्वयंसेवी संस्था 'एकलव्य' के संस्थापक निदेशक हैं और गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर के संस्थापक उपकुलपति रहे हैं। सेवानिवृत्ति के बाद वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। उनसे behar@azimpremjifoundation.org या sharadbehar@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : रमणीक मोहन, **अनुवाद सम्पादन :** हिमालय तहसीन

भारतीय शिक्षा नीति, किस ओर ?

हृदय कान्त दीवान



भूमिका

2016 की भारत की शिक्षा नीति का स्थगित प्रारूप यथास्थितिवाद को सुदृढ़ करता है। प्रारूप में स्तरीकृत शिक्षा की मौन स्वीकृति, कठोरता से नियन्त्रित नतीजों व प्रतियोगिता पर बहुत अधिक ध्यान-केन्द्रित रखने और विकेन्द्रीकरण व शिक्षकों के सशक्तीकरण में असमर्थता के माध्यम से ऐसा हुआ है।

पृष्ठभूमि

इस बात का एहसास व्यापक स्तर पर है कि सरकारी स्कूलों का प्रदर्शन — विशेषकर ग्रामीण भारत में — अच्छा नहीं है और सीखने से सम्बन्धित उनके नतीजे भी बुरे ही हैं। कुछ बहुत ही अच्छे चलने वाले स्कूलों और समर्पित शिक्षकों के किस्से सुनने को मिल तो जाते हैं मगर अफसोस है कि वे भी संख्या में कम ही हैं। इसी के साथ-साथ हम यह भी जानते हैं कि निम्न, मध्यम और उच्च शुल्क वाले निजी स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे हैं। इन्हें अँग्रेजी-माध्यम स्कूल के तौर पर प्रचारित किया जाता है और कई महत्त्वाकांक्षी ग्रामीण माता-पिता अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने के लिए फीस देते हैं। बहुतों को लगता है कि ये निजी स्कूल अधिक अनुशासित और नियमित हैं और इनमें शिक्षक बच्चों पर अधिक ध्यान देते हैं, गृह-कार्य भी देते हैं और मूल्यांकन भी अधिक करते हैं। ये लोग इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि ये स्कूल अपेक्षित फीस भरने में असमर्थ लोगों की पहुँच से बाहर हैं। लेकिन इस बारे में सोचना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि युक्तिसंगत प्रतीत होने वाली एक दलील यह दी जाती है कि निजी स्कूल निम्न-खर्च के होते हुए भी बच्चों का सीखना सुनिश्चित कर पाते हैं। 2016 की शिक्षा-नीति और 2017 की अब भी अधर में लटकी नीति का मूल्यांकन करते समय इस परिदृश्य को ध्यान में रखना होगा कि जो बच्चे अच्छा माने जाने वाले स्कूलों में पढ़ रहे हैं और परीक्षाओं में जिनके नतीजे अच्छे देखने को मिलते हैं वे भी अवधारणात्मक कार्यों या प्रश्नों से निपटने में अच्छी तरह लैस प्रतीत नहीं होते। जो कि गाँवों और गरीबों के स्कूलों की तो हकीकत ही है।

नीति-विमर्श

नीति और उसे सूत्रबद्ध करने के तरीके का आकलन करने के मकसद से इस बात पर विचार करना लाभदायक होगा कि हमें शिक्षा पर नीतियों की आवश्यकता क्यों होती है। स्कूल तो कई शताब्दियों से चल ही रहे हैं, फिर हमें नीति की जरूरत क्यों पड़ी, यह सवाल इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हम नीति बनाने की मौजूदा कोशिश को उस मापदण्ड पर जाँच सकें। स्वतन्त्रता-पूर्व के उस समयकाल में जाने के बजाए (जब शिक्षा के बारे में कोई सुबोध्य एवं स्पष्ट अखिल भारतीय समझ नहीं रही होगी) और वर्तमान स्थिति को शामिल करते हुए एक तुलनात्मक रूपरेखा के साथ संघर्ष करने की बजाए, बेहतर होगा कि शुरुआत भारतीय शिक्षा के प्रथम समग्र, व्यापक नीति-दस्तावेज और उसे सूत्रबद्ध किए जाने के तरीके को देखने से की जाए।

इस नीति-दस्तावेज में राष्ट्र की परिस्थितियों, देश के सामने अपरिहार्य बातों और शिक्षा की अपेक्षित भूमिका को ध्यान में रखा गया। इसके बाद मौजूदा हालात और चुनौतियों का ब्यौरा दिया गया और फिर मोटेतौर पर उद्देश्य सामने रखे गए। तदुपरान्त सम्भावित चुनौतियों को सम्बोधित किया गया और इन उद्देश्यों तक पहुँचने के सम्भव तरीके सुझाए गए। 1986 के नीति-दस्तावेज ने भी यही संरचना रखी और 1968 की नीति में अभिव्यक्त मुख्य लक्ष्यों, चिन्ताओं और आशाओं का पुनरावलोकन किया। दस्तावेज के कुछ खण्डों में इनमें से कुछ लक्ष्यों तक पहुँचने की कार्यविधियों की बात की गई और पाठ्यचर्या-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के बारे में सोच-विचार की शुरुआत की गई, जो बाद में राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यचर्या के कई सुव्यवस्थित निरूपणों तक ले गई।

राष्ट्र-निर्माण के लक्ष्यों के साथ शिक्षा का सम्बन्ध और लोकतान्त्रिक राज्य की राज्य व्यवस्था में उनकी भूमिका 1968 के दस्तावेज में कहीं अधिक स्पष्ट तौर पर दिखाई दी । हालाँकि यह दस्तावेज भारत के गैर-सम्भ्रान्त वर्ग के नवजागरण की रूपरेखा में जड़बद्ध था, समानता के प्रति चिन्ता उसमें मौजूद थी क्योंकि सभी लोगों को देश के तात्त्विक घटक के रूप में लिया गया था। 1986 की नीति, 1968 की नीति के कई अन्य बदलावों के साथ पहली बार, सीखने के

न्यूनतम स्तरों का विचार और लोगों को केवल नागरिक मानने की बजाए उन्हें राष्ट्र-निर्माण में संसाधन के रूप में देखे जाने के विचार लेकर आई।

संविधान-सभा की बहसों और उद्देशिका से हटकर इन नीतियों तक जो नीति-गत परिवर्तन हुआ वह धीरे-धीरे अपनी व्यापकता, अर्थ और उद्देश्य में संकुचित होता चला गया था। गाँधी जी की नई तालीम के पैरोकारों द्वारा शुरू की गई स्वतन्त्रता-पूर्व बहस ने कुछ चिन्ताओं को सामने रखा था। इनकी बुनियाद में मौजूद उद्देश्यों और निहितार्थ पर सवाल उठ सकते हैं लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि वे एक सार्वभौमिक शिक्षा नीति के हक में खड़े थे और यह अन्ततः अपनाई गई व लागू की गई नीति के मुकाबले अधिक सम्पूर्ण थी। 1968 की नीति ने नई तालीम के कुछ पक्षों पर बल जरूर दिया, जैसा कि उसके बाद के कुछ दस्तावेजों ने भी किया, लेकिन मुख्य जोर बल नागरिक की एक घटक की बजाए एक संसाधन के रूप में बदली हुई स्थिति को पहचानने और बनाए रखने पर था।

नीति उन संसाधनों के बारे में भी स्पष्ट बात रखती है जो उपलब्ध करवाए जाने होंगे और वांछित शासन व्यवस्था एवं मुख्य हितधारकों के प्रति कार्यपालिका के रवैये की बात भी करती है। वह ढाँचे की ओर भी इशारा करती है और सम्पूर्ण ढाँचे की कार्यविधियों के बारे में दिशा-निर्देश भी उसमें सन्निहित हैं। ये सब समीक्षा का हिस्सा रहे हैं। लेकिन उठाए जाने वाले विशेष कदमों और लगाए जाने वाले संसाधनों को लेकर नीतियों में कोई प्रतिबद्धता प्रदर्शित नहीं हुई। इसके उलट, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा—2005 (एन.सी.एफ.—2005) में नीति से अपेक्षित आशाएँ और सरकार की आवश्यक प्रतिबद्धताएँ स्पष्ट तौर पर अभिव्यक्त की गईं। यह याद करना रोचक होगा कि 'नई तालीम' अभियान ने शिक्षा में सरकार की हिस्सेदारी की आवश्यकता को पहचाना लेकिन साथ ही अड़ोस-पड़ोस के स्कूलों के बेहतर संचालन एवं उनके लिए वित्तीय सहायता देने में एक महत्त्वपूर्ण हितधारक के तौर पर समुदाय की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित किया। इसी के तहत यह दलील भी दी गई कि शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय का खुलासा होना चाहिए ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि धन वाजिब स्रोतों से आया है न कि शराब और ऐसे ही अन्य पदार्थों की बिक्री से, जो उचित नैतिक व्यवहार का हिस्सा न हों। यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में एल्फिन्स्टन के कथन भी, हालाँकि वे नई तालीम की विचारधारा से बहुत अलग हैं, सामुदायिक स्वामित्व/मालिकाना की आवश्यकता की बात करते हैं।

अत: 2016 की नीति से आशा बहुत थी। इस नीति का एन.सी.एफ.—2005, उससे सम्बद्ध पोजिशन पेपर्स, और खासतौर से व्यवस्थागत सुधारों से सम्बन्धित पोजिशन पेपर के बाद आना महत्त्वपूर्ण था और आशा की जा रही थी कि नीतिगत विमर्श और उसे लागू किए जाने से सम्बद्ध कमियों को दूर करने की बात को इसमें सम्बोधित किया जाएगा। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि एन.सी.एफ.—2005 को आर.सी.एफ.टी.ई.—2009 के आधार-दस्तावेज के तौर पर संलग्न किया गया था — उम्मीद थी कि ये दोनों सीधे-सीधे, स्पष्ट तौर पर दिखाई देने वाली कमियों को दूर करेंगे। लेकिन नीति की ओर बढ़ने के दौरान ऐसा कुछ भी न हुआ। पिछली नीति की कोई समीक्षा नहीं की गई और मौजूदा चुनौतियों एवं स्थिति पर भी कोई रिपोर्ट तैयार नहीं की गई। यहाँ तक कि लोगों और देश की अभिलाषाओं से जुड़े परिप्रेक्ष्यों का भी पर्याप्त रूप से मिलान नहीं किया गया। बल्कि यह मनमाने ढंग से बनाए गए प्रश्नों का मिलान था जिनके इर्द-गिर्द चर्चा हुई, जबकि उन्हें अर्थपूर्ण और भागीदारीपूर्ण बनाने के लिए कोई तर्कसंगत कार्यप्रणाली भी नहीं थी। इस तरह यह अभ्यास शिक्षा के अधिकार के कुछ प्रावधानों के इर्द-गिर्द हो रहे शोर-शराबे को ठण्डा करने मात्र तक सीमित रहा। इसी परिप्रेक्ष्य में हम शिक्षा का अधिकार—2009 के मुख्य बिन्दुओं को विश्लेषित करेंगे।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम—2009

शिक्षा का अधिकार नेक इरादों का प्रदर्शन भर था; हालाँकि एक अर्थ में कहा जा सकता है कि इसने शिक्षा को सब बच्चों का अधिकार बनाने का प्रयास किया। लेकिन समता का सिद्धान्त और सार्वजनिक/साझा स्कूल का विचार काफी हद तक कमजोर पड़ गया। निजी स्कूलों में 25 प्रतिशत स्थान आर्थिक तौर पर वंचित बच्चों के लिए आरक्षित किए जाने का अर्थ था कि स्कूली शिक्षा की स्तरीकृत व्यवस्था को सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार कर लिया गया था।

इस अनकही स्वीकृति और वैधता प्रदान किए जाने के अलावा बहुत खुले तौर पर दो अन्य महत्त्वपूर्ण कमियाँ दिखाई दीं। एक तो यह कि स्कूलों को प्रतिपूर्ति की रकम उनके द्वारा ली जाने

वाली फीस के अनुसार नहीं बल्कि सरकार द्वारा स्वयं, मनमाने तरीके से तय की गई राशि थी। दूसरा, इन बच्चों को निजी स्कूलों के अत्यन्त प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण में सफल हो पाने के लिए कोई अतिरिक्त सहायता नहीं दी जा रही थी। इसके अलावा, अधिक साधन-सम्पन्न माता-पिता एवं सम्भ्रान्त पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों द्वारा इन वंचित बच्चों के साथ किए जाने वाले तिरस्कारपूर्ण व्यवहार को भी ध्यान में नहीं रखा गया। और न ही अभी भी उसे सामने लाया जाता है क्योंकि अधिकतर सम्भ्रान्त स्कूल इन 'कोटा' बच्चों के साथ अलग ही तरह का व्यवहार रखते हैं।

वित्त सम्बन्धी कमियाँ

शिक्षा के अधिकार में एक और बड़ी कमी उसके उद्देश्यों को सम्भव बना पाने के लिए वित्तीय प्रतिबद्धता का न होना था। शिक्षा व्यवस्था को चलाने वाले नौकरशाहों को दण्डित करने के या सुधार के कोई कदम नहीं थे। ज्ञानार्जन के लिए जवाबदेही केवल अभिभावकों, बच्चों और शिक्षकों की ही रखी गई थी। अन्य सब लोगों का काम तो बस बुनियादी ढाँचा और कैसी भी गुणवत्ता के शिक्षक मुहैया करवाना व आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आँकड़े पैदा करना था। शिक्षकों को निर्देशित किया जा सकता था, उन्हें बिना कोई जवाबदेही तय किए स्कूल के समय में गैर-शिक्षण कार्य दिए जा सकते थे। विडम्बना यह, कि अपराधी होने बाबत निर्णय और दोष तय करने का काम भी स्थानीय या राज्य सरकार के विभागों को उपयुक्त प्राधिकारी मानते हुए उन पर ही छोड़ दिया गया।

रौब-जमाऊ निगरानी

शिक्षा का अधिकार के बाद के सालों में नौकरशाही द्वारा स्कूलों में आपूर्ति के हालात पर पैबन्द लगाने और आधा सच लिए हुए आँकड़े तैयार करने के काम किए जाते रहे हैं। दूसरी ओर, उसके द्वारा स्कूल और शिक्षकों के लिए स्वायत्तता हेतु कोई जगह नहीं छोड़ी जाती। शिक्षकों के पास कर्ता के रूप में शक्ति का इस्तेमाल करते हुए भूमिका निभाने का कोई मौका नहीं रहता। सालों से चली आ रही रौब-जमाऊ निगरानी और निरंकुश दिशा-निर्देशन ने उनके विश्वास को हिला दिया है और जोश को पस्त कर दिया है। शिक्षक-शिक्षा ने भी नौकरशाही प्रकृति इख्तियार कर ली है और इसमें इतना भ्रष्टाचार आ चुका है कि शिक्षक विश्वास के साथ पढ़ाने में भी सक्षम नहीं महसूस करते। शिक्षक-शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रमाणीकरण की ओर प्रवृत्त है। जो कुछ भी शिक्षा के अधिकार के दस्तावेज में और निगरानी की इन प्रणालियों के तहत कहा गया, वह बच्चे को कक्षा में न रोके रखने की भावना के विपरीत था जबकि उस नीति का मकसद बच्चों को अधिक सहायता और समय देने का था। इस नीति की व्याख्या कुछ इस तरह की गई कि बच्चे चाहे किसी भी पृष्ठभूमि से हों, उन्हें एक चमत्कार की तरह किसी भी कक्षा की विषयवस्तु और उससे सम्बद्ध क्षमताओं को सीख लेना चाहिए। नतीजा यह, कि स्कूलों और बच्चों को जाँच एवं असहानुभूतिपूर्ण विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाले बाह्य मूल्यांकनों से सम्बद्ध दबावों की बाढ़ का सामना करना पड़ा,जिन्होंने कभी भी कक्षाओं में पढ़ाया नहीं था और जिन्हें इन स्कूलों के बच्चों की पृष्ठभूमि के बारे में समझ भी नहीं थी।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए 2016 की नई शिक्षा नीति के सामने दो तरह की मुख्य चुनौतियाँ थीं : प्रथम, शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करना और दूसरा, शिक्षा का शासन एवं उसका क्रियान्वयन। इस बात की बहुत गहन आवश्यकता थी कि समुदाय को इस प्रक्रिया के केन्द्र में रखा जाए और साथ ही शिक्षा-व्यवस्था के रवैये को परिवर्तित किया जाए। इसमें शामिल था कि ग्रामीण क्षेत्रों के पिछड़े हुए तबकों की आवाज स्कूलों में सुनी जाए और वंचित पृष्ठभूमियों से आने वाले लोगों को सम्पूर्ण स्कूली व्यवस्था द्वारा सम्मान दिया जाए।

नीति से निराशा

2016 की कवायद में नीति की विचार-स्थापना इन सब पहलुओं में गम्भीर तौर पर निराशाजनक रही। सर्वप्रथम तो प्रक्रिया ही दोषपूर्ण थी। नई नीति अब भी विकसित की ही जा रही है और यह अस्पष्ट है कि वर्तमान नीति की दिशा कितनी बनी रहेगी और सुझावों में से भी कितने रहेंगे। इसके अलावा रूपरेखा भी अभी अनुमान पर आधारित और अनिश्चित है — प्रक्रिया, शर्तों और टीम के बारे में कम ही स्पष्टता है। सुब्रमण्यन कमेटी रिपोर्ट से पहले मानव संसाधन विकास मंत्रालय की ओर से एक नीति-कथन आया था। इस दावे के बावजूद कि यह देश भर में हुए व्यापक परामर्श पर आधारित है, इस प्रक्रिया में तीन बड़ी महत्त्वपूर्ण कमजोरियाँ रहीं। पहली बात तो यह कि प्रक्रिया की शुरुआत पिछले नीति दस्तावेज

के व्यापक एवं सर्वांगीण मूल्यांकन, उसकी क्रियान्वयन-सम्बन्धी स्थिति और चुनौतियों से नहीं हुई। यह विशेष तौर से इसलिए आवश्यक था कि बीच में एन.सी.एफ. के दस्तावेज और एन.सी.एफ.—2005 से सम्बद्ध पोजीशन-पेपर भी आए जिनमें व्यवस्था की कार्यप्रणाली पर टिप्पणियाँ की गई थीं और जिनके नीति के लिए भी निहितार्थ थे। इस तरह के विश्लेषण की कमी के चलते, नीति से सम्बद्ध यह परामर्श इच्छित उत्तरों की ओर इशारा करने वाले ऐसे फुटकर प्रश्नों पर आधारित था जो बुनियादी प्रतिबद्धताओं और शिक्षा के अर्थपूर्ण उद्देश्य को नजरअन्दाज करते थे।

दूसरी कमी परामर्श के तौर-तरीके और कार्यवाइयों की रिकॉर्डिंग और दस्तावेजीकरण की अपर्याप्तता से सम्बद्ध थी।

तीसरा, जो कुछ एकत्र किया गया और जिसका मिलान किया गया, उसे भी शायद सरसरी तौर पर ही देखा गया। संकीर्ण परिप्रेक्ष्य के पार जाने का कोई प्रयास किया गया हो, ऐसा नहीं लगता। नीति द्वारा जिन आवश्यक विषयों सम्बोधित करना चाहिए, वे हैं : लोगों के जीवन, राज्य और सरकार से शिक्षा का सम्बन्ध; शिक्षा की भूमिका और उद्देश्य; शिक्षा का स्वामित्व और वित्तीय आपूर्ति। आवश्यकता यह बताए जाने की भी थी कि एन.सी.एफ.—2005 के सिद्धान्तों का नवीनीकरण किया जाएगा कि नहीं — और यदि हाँ, तो बदलाव किस तरह का होगा। इसके बजाए नीति में कुछ गुप्त मान्यताएँ थीं। यह स्पष्ट नहीं था कि नीति-परामर्श में से निकलने वाले कौन से कदमों को हाथ में लिया जाएगा।

नतीजा यह है कि स्तरीकृत व्यवस्था की असमानताओं को चुनौती दिए जाने की बजाए स्वीकार कर लिया गया है। बुनियादी धारणा यह है कि शिक्षा अर्थव्यवस्था के लिए ईंधन का काम करती है और कुछ बच्चे अन्य के मुकाबले अधिक योग्य एवं लायक होते हैं और इन्हें शुरू से ही चिह्नित करके पोषित करने की जरूरत होती है। एक नजरिया यह दिखाई देता है कि अधिकतर बच्चे अकादमिक या प्रशासनिक नौकरियों में नहीं जाएँगे और इसलिए उन्हें शिक्षा की कोई महत्त्वपूर्ण जरूरत नहीं है। उन्हें तो बस कुछ बुनियादी यान्त्रिक दक्षताओं की आवश्यकता होगी ताकि वे सस्ती मजूरी का काम बुद्धिपूर्वक कर पाएँ और विज्ञापित बाजार के उपभोक्ता बन पाएँ। उनके लिए किसी साझा समृद्ध कक्षा-कक्ष या अपेक्षाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें अर्थव्यवस्था में किसी निम्न दर्जे की भूमिका के लिए प्रशिक्षित पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

इस तरह, सबके लिए समतामूलक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचने में व्यवस्था की असफलता पर प्रश्न उठाने की बजाए नीति ने इसे अपनी भूमिका के रूप में स्वीकार कर लिया। यह स्पष्ट तौर पर दिखाई दे रहा था कि इन्सान को राष्ट्र के लाभ के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पूँजी के रूप में देखा जा रहा है न कि अधिकारों और कर्तव्यों वाले एक नागरिक के तौर पर।

शिक्षा का उद्देश्य

यह भी साफ था कि शिक्षा को एक दक्षता-विकास एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा था। यानी सीधे तौर पर स्वीकारा जा रहा है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य तो नौकरी हासिल करना है। जीवन के अनुभव और उल्लास को समृद्ध करने में सार्वभौमिक शिक्षा की सारभूत आवश्यकता के विचार को उपेक्षित किया गया था और किया गया है। जिस प्रकार उसे परिभाषित किया गया और जिस तरह से वह आगे बढ़ी है, उसमें इस बात की कोई वकालत नहीं की गई है कि ग्रामीण गरीब अपने बच्चों की शिक्षा में कुछ निवेश करें।

शिक्षा के सामने आज एक मुख्य चुनौती स्कूल चलाने के खर्च से सम्बन्धित है। अपेक्षा तो यह थी कि नीति इस बात को खरे तौर पर स्वीकारेगी कि शिक्षा पर अधिक निवेश की आवश्यकता है और अब तक अधर में लटके कदमों को ठीक करेगी। लेकिन नीति का झुकाव तो दूसरी ओर ही है। भावना और वास्तविकता, दोनों स्तरों पर, उपलब्ध संसाधनों और उनके इस्तेमाल में कटौती की गई है। नीति इस आवश्यकता को अभिव्यक्ति नहीं देती कि स्कूल और शिक्षक की बच्चों, उनके अभिभावकों और समुदाय के प्रति सबसे महत्त्वपूर्ण जवाबदेही है। वह समुदाय को भागीदार के तौर पर देखते हुए शिक्षा के उद्देश्य को पुन: खोजने की आवश्यकता की बात नहीं करती और न ही समुदाय को वार्तालाप और क्रियान्वयन में शामिल करने लाने की बात करती है। इसके उलट, मसविदे से स्पष्ट तौर पर लेने वाली बातें ये हैं कि बच्चों के साथ

भिन्नतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है और अधिकतर बच्चों को दक्षताओं में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

शासन का सवाल

शासन और प्रशासन के सवाल को सम्बोधित करने में नीति असफल रही है जबकि इसे सबके लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सम्भव बनाने के रास्ते में एक बड़े अवरोध के रूप में पहचाना गया है। शिक्षकों, बच्चों और समुदाय को आदर एवं प्रोत्साहन देने वाली, केन्द्रीकरण को कम करने की ओर अग्रसर, जरूरत से अधिक शासन और दमनकारी एवं विवेकहीन निगरानी को त्यागने वाली एक निष्पक्ष और सहायक व्यवस्था की आवश्यकता को भुला दिया गया है।

इस आवश्यकता पर कई साल पहले, 2005 में व्यवस्थागत सुधार के पोजीशन-पेपर में भी बल दिया गया था। यह मुद्दा कई जगहों पर कार्यक्रमों और संरचनाओं की समीक्षा के दौरान बार-बार उठता रहा है। नीति की रूपरेखा में यह शामिल नहीं था। इसीलिए सिफारिशें अधिक निगरानी, अधिक जाँच और स्कूलों एवं शिक्षकों पर अधिक दबाव की ओर प्रवृत्त हैं। यह इस बात की मौन स्वीकृति को ही सुदृढ़ करता है कि कुछ बच्चे तो सीमित शिक्षा हासिल करने के लिए ही हैं एवं सरकारी ढाँचे और प्रणालियाँ तो काम नहीं कर पाएँगे और इसलिए सभी स्तरों पर निजीकरण किया जाए।

शिक्षकों को जकड़ने पर केन्द्रित ध्यान

नई नीति शिक्षकों को केन्द्र में रखे जाने और उन्हें विकल्पों का चुनाव करने के लिए सशक्त किए जाने के विचार की जाँच-पड़ताल नहीं करती – इस विचार की भी नहीं, कि शिक्षकों को अपने विचार बच्चों के साथ मिलकर विकसित करने और खँगालने की अनुमति दी जाए या नहीं दी जाए। नीति उनके हतोत्साहित होने और उनके अलगाव के स्रोतों पर नजर नहीं डालती। नीति और उसके इर्दगिर्द के विमर्श ने विकेन्द्रीकरण, स्वायत्तता और साझा जिम्मेदारी के लिए व्यावहारिक कार्यप्रणालियाँ निर्मित करने की कोशिश ही त्याग दी है।

मानदण्डों और परिणामों के मिथकों पर — और उनसे जुड़ी अत्यधिक प्रतियोगिता और चिन्ता पर — सवाल नहीं उठाए गए हैं। तैयारी तो यह है कि इन सबको तीव्रता प्रदान करने वाले घटकों को स्थान मिले। पृष्ठभूमियों की विविधता का और समतामूलक अवसरों के निर्माण के लिए आवश्यक धैर्य का आदर नहीं किया गया है और न ही सीखने का उत्सव मनाने की बात को पहचाना गया है। बल्कि यह तो समरूपीकरण है और सीखने के विशिष्ट उद्देश्यों एवं अपेक्षाओं के आधिपत्य का जबरदस्ती थोपा जाना है जिसमें विभिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों के लिए धैर्य की आवश्यकता के प्रति समानुभूति का अभाव है।

स्तरीकरण का तीव्र और सामाजिक विभाजनों की खाई का चौड़ा होना

समता के इर्दगिर्द आम राय बनाए जाने से सवाल उठते हैं — ग्रामीण और शहरी के बीच की असमानता एवं इससे भी अधिक, ग्रामीण समाज में होने वाले स्तरीकरण को ले कर सवाल। आर्थिक विकास ने ग्रामीण भारत में अभिलाषाओं के लिए स्थान बनाया है, शहरी वस्तुओं का उपभोग और बुनियादी, मूलभूत शहरी ढाँचे और शिक्षा व्यवस्था में निवेश उपयुक्त प्रतीत होता है। किन्तु जैसे-जैसे भूमि और अर्थव्यवस्था पर दबाव बढ़ेगा, स्थिति और अधिक बिगड़ेगी।

शिक्षा-नीति ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है और ताकतवर एवं प्रभुत्वशाली लोगों के हितों को बल दिया है। विमर्श की प्रकृति को ध्यान में रखें तो नई नीति से कुछ आशाएँ थीं मगर इससे भी अधिक उसको लेकर भय थे। बातचीत पहले से अधिक दबावों और शुरू से ही विशेषज्ञता के इर्दगिर्द है जबकि सम्पूर्णता लिए हुए, समावेशी और बहुल शिक्षा के विचारों को त्याग दिया गया है। ऐसा लगता है कि शिक्षा की सार्वजनिक व्यवस्था के लिए सहायता और वादा किए गए संसाधन मुहैया करवाने की बात को पीछे धकेल दिया गया है।

प्रतीत तो यह होता है कि व्यवस्थागत सुधारों के लिए उठाए गए कदम शिक्षक और स्कूल को पहले से भी अधिक, प्रशासन के इशारों पर और आदेशों नाचने के लिए बाध्य करेंगे। सबसे अधिक ध्यान इस ओर दिया जा रहा लगता है कि एक छलनी और एक औजार के तौर पर शिक्षा का एक सीमित उद्देश्य बस ऐसे उपयोगी नागरिक तैयार करने का रह जाए जो सक्षमता के साथ बाजार का इस्तेमाल कर सकें।

नीति को फिलहाल ताक पर रख दिया गया है, लेकिन सरकार का बढ़ता हस्तक्षेप, निर्देशित मूल्यांकन एवं निगरानी

मॉनिटरिंग के प्रयास नीति के क्रियान्वयन की दिशा का संकेत देते हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षा का ध्यान सीमित, संकीर्ण, मापे जाने लायक नतीजों तक केन्द्रित करने की एक आम सहमति बना ली गई है। हर तरह की संस्थाओं और बच्चों की तमाम किस्म की विविधताओं के लिए एक से पैमाने तय करने से न केवल शैक्षिक लक्ष्य बल्कि वंचित पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों की सम्पूर्ण शिक्षा खतरे में हो सकती है। कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे निजी स्कूल और शायद सरकारी ढाँचे के बाहर की नेक-इरादा शैक्षिक संस्थाएँ-संगठन, सभी का ध्यान ऐसे प्रोग्राम और सामग्री विकसित करने पर है जो स्कूल की पाठ्यचर्या-सम्बन्धी आशाओं को घटाकर केवल परीक्षण तक सीमित कर दे। इस प्रक्रिया में, और अन्यथा भी, शिक्षक को स्टोर-कीपर बना दिया जाएगा जिसका काम बस सामग्री के वितरण और वापस लेने भर का होगा। बच्चों और स्कूल के सन्दर्भ एवं वातावरण को ध्यान में रखें तो शिक्षा विद्यार्थियों के बीच और विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के बीच एक निरन्तर वार्तालाप है - इस विचार का स्थान एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा लिया जा रहा है जिसे हम सामान्य रूप में इनपुट-आउटपुट प्रक्रिया कह सकते हैं। स्कूल के अर्थ को सीमित कर दिए जाने के साथ शैक्षिक व्यवस्था में बच्चों को 'कमजोर विद्यार्थी' और 'अच्छे विद्यार्थी' के वर्गों में अलग करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा—2005 के सबसे महत्त्वपूर्ण निर्माणकारी सिद्धान्तों में से कुछ को, जिनमें संविधान की प्रस्तावना की संवैधानिक प्रतिबद्धता के समीप आने की कोशिश थी, ताक पर रखने की मौन सहमति शिक्षा-नीति के चिह्नित क्षेत्रों, प्रश्नों और छंटनीय वर्गों में प्रतिबिम्बित होती है। नीति-सम्बन्धी घटनाओं के बारे में पारदर्शिता का न होना भी चिन्ता का विषय है। उठाए जाने वाले विचारणीय कदम साझा नहीं किए जा रहे, न ही यह जानकारी है कि नीति-विकास की प्रक्रिया भंग कर दी गई है या अब भी जारी है।

(Adopted from Dewan H.K., http://www.villagesquare.in/ 2016/ 12/05/new-educationpolicy-fails-address issues-equity/)

References:

1. National Policy of Education 1968, Section 4.2, pg 38, Department of Education, GOI
2. National Policy of Education 1986, MHRD, GOI, Section 3.2, 4.6, 5.9, 5.157.1, 7.2, 7.3, 9.1 and 9.2.
3. The Programme of Action 1992 , Department of Education MHRD Delhi
4. National Curricular Framework 2005, Chapter 5, pg 101, NCERT
5. The Right of Children to Free and Compulsory Education 35 of 2009, Sections 12, 23, 24, 27, 29 (2h) GOI, 26 August, 2009
6. Dewan, H.K., Mahadale, A., Towards a New Education Policy Directions and Considerations, Economic & Political Weekly, NOVEMBER 28, 2015, Vol l No. 48
7. Dewan, H.K., मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम: कुछ विचारणीय बिन्दु, Mool Prashan, Editorial pg 2-6, February-April, 2010
8. Dewan, H.K., Dimensions of Quality Education- Situation, Challenges and the Way Forward in report on, Right to Education papers and proceedings of a Consultation, page 46, Ajit Foundation 2016
9. Dewan, H.K., Dewan, S., Poor Learning among Socially Marginalised Children: Socio-Cultural Factors and Challenges, Presentation at National Conference on "Factors of Poor Learning: Challenges, Opportunities and Practices for Learning Improvement in Socially Diverse Elementary Schools of India" 2 to 4 September, 2016, New Delhi

हृदय कान्त दीवान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। वे 'एकलव्य' के स्थापना-समूह के सदस्य एवं विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के परामर्शदाता रहे हैं। वे पिछले 40 वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग ढंग से कार्यरत रहे हैं। वे विशेष तौर से शैक्षिक नवाचार और राज्य के शैक्षिक ढाँचों में परिवर्तन के लिए प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रमणीक मोहन **अनुवाद सम्पादन :** हिमालय तहसीन



एक सामान्य आधार की खोज - शिक्षा से सम्बन्धित कुछ बहसें

निमरत खण्डपुर

शिक्षा नीति के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन पर काफी बहस होती रही है। इस लेख में यह प्रयास किया गया है कि शिक्षा में निवेश, प्रौद्योगिकी शिक्षण, व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षक की जवाबदेही और कक्षा में रोके न जाने की नीति से सम्बन्धित बहसों के बारे में व्यापक चर्चा प्रस्तुत की जाए। विचार यह है कि इन क्षेत्रों के साथ में अन्य क्षेत्रों की जाँच भी की जाए और यह जाँच संवैधानिक मूल्यों एवं साम्यता, पहुँच तथा गुणवत्ता के सरोकारों के आधार पर की जाए। नीति की रचना शोध आधारित साक्ष्य और शिक्षा के मूल सिद्धान्तों-दोनों को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए।

सन्दर्भ

सभी नागरिकों की शिक्षा तंत्र में हिस्सेदारी है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि शिक्षा के सम्बन्ध में सभी नागरिकों के विचार दृढ़ हैं। जमीनी स्तर से राष्ट्रीय शिक्षा नीति को विकसित करने के हाल के प्रयासों ने इस विश्वास को परिलक्षित किया है, भले ही उस प्रयास के महत्व के बारे में कोई भी विचार हो।

कुछ चर्चाएँ काफी दिलचस्प हैं। उदाहरण के लिए कुछ राज्यों में पंचायत स्तर की चर्चाओं के दौरान माता-पिता ने सभी स्कूलों को अँग्रेजी माध्यम का बनाने की सिफारिश की, जो मौजूदा नीति से सम्बन्धित नहीं है। शोध के सबूत भी स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि प्रारम्भिक वर्षों के दौरान शिक्षा का माध्यम घर की भाषा/मातृभाषा होनी चाहिए। पर अँग्रेजी को सामाजिक गतिशीलता के साधन के रूप में देखा जाता है; और सरकारी स्कूलों में न जाने के कारणों में से एक कारण यह भी है कि निजी स्कूलों की गुणवत्ता चाहे कैसी भी हो, लेकिन वहाँ अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नीति निर्माताओं और आम व्यक्ति के मध्य नीति को लेकर कोई असहमति है। अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि नीति में जमीनी स्तर और गहन शोध अध्ययनों के प्रमाणों पर ध्यान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए हमारे पास इस बात के एक सदी से भी अधिक की समयावधि के प्रमाण हैं कि अगर बच्चे को किसी कक्षा में रोक दिया जाए तो जरूरी नहीं कि वह उस कक्षा में अपेक्षित योग्यताएँ प्राप्त कर लेगा। इसके लिए तो व्यवस्थागत और कक्षा-आधारित उपायों की आवश्यकता है। अधिगम के अच्छे परिणामों के लिए कई कारक जिम्मेदार होते हैं। ऐसे में अच्छे परिणामों के लिए केवल शिक्षक को उत्तरदायी ठहराकर उनसे प्रभावकारी ढंग से कार्य करने की अपेक्षा करना एक अलग मामला है।

और फिर यह सवाल अक्सर पूछा जाता है कि जब हमारी शैक्षिक नीतियों में एक जैसी रुकावटें हैं तो इसका कार्यान्वयन इतना कठिन क्यों है? और जब वे कार्यक्रमों और योजनाओं का रूप ले लेती हैं तो इन्हें आमतौर पर अस्थायी क्यों समझा जाता है और जमीनी स्तर पर इनका कम प्रभाव क्यों पड़ता है?

इन बातों के कई कारण हो सकते हैं जैसे आर्थिक और मौजूदा प्राथमिकताएँ, उन समस्याओं के लिए अल्पावधि समाधान की तलाश करना जो लम्बे समय से मौजूद हैं और जिनकी जड़ें गहरी जमी हुई हैं, यह सच्चाई कि शोध के प्रमाण शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोगों और अध्यापकों तक नहीं पहुँचते - ये तो हुए व्यवहारिक विचार। इसके अलावा गहन रूप से जमे हुए विश्वास और निहित स्वार्थ भी इन्हें प्रभावित करते हैं। इतना तो निश्चित है कि शिक्षा के कुछ क्षेत्रों के बारे में कई तरह विचार प्रचलित हैं जिनका कड़ा प्रतिवाद होता ही रहता है।

ये प्रतिवाद या बहसें कुछ बुनियादी सवाल उठाते हैं जैसे हमारे देश में नीति निर्माण की प्रक्रिया कितनी लोकतांत्रिक है, क्या नीति से जुड़े सभी क्षेत्रों को सर्वसम्मति मिल सकती है, क्या नीति निर्माण शैक्षिक सरोकारों से संचालित होना चाहिए या लोकप्रियता से, नीति व्यवहार्यता से कितनी अवगत है, नीति निर्माण में हम पेशेवर लोगों की भागीदारी कैसे पा सकते हैं, हम हितधारकों के समक्ष नीति की प्रासंगिकता का पक्षसमर्थन कैसे करें - यह सूची काफी लम्बी है और प्रश्न बेहद जटिल। लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करने से पहले शिक्षा के उन क्षेत्रों की जाँच करना उपयोगी होगा जिन पर विवाद होता है।

शिक्षा नीति के जिन क्षेत्रों पर विवाद होता है वे हैं-शिक्षा में निवेश, स्कूलों में शिक्षण का माध्यम, शिक्षण-अधिगम में तकनीकी का उपयोग, प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा, शिक्षा में व्यावसायिक/कौशल विकास, शिक्षक जवाबदेही, अधिगम की गुणवत्ता का आकलन करने के लिए मानकीकृत आकलन,

कक्षा में रोके न जाने की नीति, शोध व प्रमाण आधारित नीति का निर्माण, निजीकरण, विशेष आवश्यकताओं वाले बच्चों की शिक्षा इत्यादि। आगे इनमें कुछ विषयों से सम्बन्धित बहसों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

शिक्षा में निवेश

शिक्षा में निवेश के लिए 6% जी.डी.पी.की माँग लगभग आधी सदी पहले ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में की गई थी, जिसमें कहा गया था कि 'शिक्षा में धीरे-धीरे निवेश बढ़ाने का लक्ष्य होना चाहिए ताकि राष्ट्रीय आय के 6% व्यय के स्तर तक जल्द से जल्द पहुँचा जा सके'। इस सिफारिश का सन्दर्भ देते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1992 में कहा गया कि 'चूँकि शिक्षा में वास्तविक निवेश उस लक्ष्य से काफी कम रहा है, इसलिए यह जरूरी है कि इस नीति में निर्धारित कार्यक्रमों को निधि (फंड) मुहैया कराने पर अधिक ध्यान दिया जाए'। नीति में सिफारिश की गई कि शिक्षा पर परिव्यय बढ़ाया जाए ताकि आठवीं पंचवर्षीय योजना के बाद से यह समान रूप से राष्ट्रीय आय के 6% से अधिक हो जाए।

लेकिन पिछले तीन दशकों में शिक्षा में निवेश का औसत जी.डी.पी. के 3.5% से भी कम है। अगर हम उन देशों पर नजर डालें जो शिक्षा के सर्वव्यापीकरण को प्राप्त कर चुके हैं तो उनका न्यूनतम निवेश जी.डी.पी. का 6% है। लेकिन आज के भारत में जी.डी.पी. का 6% निवेश भी अपर्याप्त है। राष्ट्रीय सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम की कमेटी की शिक्षा के लिए जी.डी.पी. की 6% की प्रतिबद्धता थी (लोकप्रिय रूप में जिसे मजूमदार समिति के रूप में जाना जाता है), जिसने 2005 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी और सिफारिशों के अनुसार यह सुझाव दिया था कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जी.डी.पी. के 8-10% की जरूरत होगी (निजी क्षेत्र, समुदाय, माता-पिता और विद्यार्थियों द्वारा किए गए योगदान को छोड़कर)।

इस प्रकार नीति की सिफारिशों में शिक्षकों, नेतृत्वकर्ताओं व संस्थानों से की जाने अपेक्षाएँ तो बढ़ी हैं लेकिन इन अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए जिन संरचनाओं और प्रक्रियाओं की जरूरत होती है जैसे ढाँचा, संसाधन, भर्ती, सहायककर्मी और संस्थाएँ आदि-उनमें पर्याप्त निवेश नहीं किया गया है।

शिक्षण-अधिगम में तकनीकी का उपयोग

स्कूली शिक्षा के साथ में तकनीकी को जोड़ने के लिए 1970 के मध्य से ही कार्यक्रम और योजनाएँ चालू हो गई थीं। अब सूचना और संचार तकनीक (आई.सी.टी.) के उपयोग और पहुँच में आसानी होती जा रही है, अतः इसे पहुँच और गुणवत्ता में सुधार में योगदान देने वाले कारक के रूप में देखा जाने लगा है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 में आई.सी.टी. को 'सामाजिक खाई पाटने का अहम औजार' कहा गया है और इस बात की सिफारिश की गई है कि इसका उपयोग 'इस तरह से होना चाहिए कि यह सूचना, सम्प्रेषण और कंप्यूटिंग संसाधनों को दूर-दराज के इलाकों तक पहुँचाए'। स्कूली शिक्षा में सूचना और संचार तकनीक पर राष्ट्रीय नीति, 2012 में आई.सी.टी. को सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के तहत गुणवत्ता सुधार के लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन के रूप में देखा गया।

तकनीक का उपयोग करने के लिए पहले पहुँच और फिर बैक अप सहायता (बिजली, मरम्मत और रखरखाव) की आवश्यकता होती है। इसके बिना तकनीक का एकीकरण व्यर्थ है। उदाहरण के लिए, आइए, हम ग्रामीण विद्युतीकरण की स्थिति पर विचार करें। ग्रामीण विद्युत आपूर्ति कितने घण्टों के लिए होगी और उसकी पैठ/प्रवेश स्तर कितना होगा दोनों की दशा ठीक नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में बिजली के कनेक्शन और कनेक्टिविटी के बिना तकनीक का प्रयोग अर्थहीन होगा, भले ही बुनियादी संरचना मौजूद हो।

साथ ही शोध के प्रमाण बताते हैं कि शिक्षा में तकनीक को एकीकृत करने के लिए केवल बुनियादी ढाँचा पर्याप्त नहीं है। स्कूल की कक्षा में तकनीक केवल तभी काम करती है जब शिक्षकों से सम्बन्धित मुख्य मुद्दों को सम्बोधित किया जाता है। ये मुद्दे हैं-विषय और शैक्षणिक योग्यता के साथ में अवलोकन के माध्यम से आई.सी.टी. के बारे में विकसित उनके व्यक्तिगत सिद्धान्त, अन्तःक्रिया, निर्देश या निष्कर्ष, आत्मविश्वास और अभिप्रेरण। इसके अलावा आई.सी.टी. के प्रयोग में विद्यार्थी-क्षमता और शिक्षक के लिए तकनीकी और शैक्षणिक दोनों प्रकार की सहायता भी आई.सी.टी. के प्रयोग की प्रासंगिकता को प्रभावित करती है। शिक्षकों को जोड़ने और नए शोध व ज्ञान तक पहुँच प्रदान करने के लिए तकनीक

उपयोगी है लेकिन यह तभी कारगर हो सकती है जब उपर्युक्त प्रमुख मुद्दों का समाधान प्राप्त कर लिया जाए।

व्यावसायिक शिक्षा

भारत में व्यावसायिकता के बारे में औपनिवेशिक काल से ही चर्चा होती रही है। जाहिर है ऐसा 'शैक्षिक अत्युत्पादन' को रोकने के लिए था जिसका कारण यह था कि 'ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम पर लगने की बजाय युवक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते और यह शिक्षा ग्रामीण कार्य के लिए पर्याप्त नहीं थी'। (तिलक, 1998) स्वतंत्रता के बाद मुदलियार आयोग ने माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रमों के विविधीकरण की सिफारिश की, जबकि कोठारी आयोग ने दस साल की सामान्य शिक्षा के बाद उच्च माध्यमिक स्तर पर दो साल की व्यावसायिक शिक्षा का सुझाव दिया।

अनेक शैक्षिक समस्याओं के समाधान के रूप में व्यावसायिक शिक्षा का प्रस्ताव रखा गया था जैसे, उच्च शिक्षा की अनियंत्रित माँग को नियंत्रित किया जा सकता था, उच्च शिक्षा के बजट को कम करने से शिक्षा में वित्तीय संकट कम हो सकता था और कॉलेज और माध्यमिक स्कूल के स्नातकों की बेरोजगारी कम की जा सकती थी। 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने व्यावसायिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ बढ़ाने और उसमें विविधता लाने की सिफारिश की ताकि 'विकासशील अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं और रोजगार के वास्तविक अवसरों की जरूरतों के अनुरूप हुआ जा सके'। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 (1992 में संशोधित) में एक पूरा खण्ड व्यावसायिक शिक्षा को समर्पित किया गया और यह सिफारिश की गई कि व्यावसायिक शिक्षा को कक्षा VIII के बाद एक अलग धारा के रूप में प्रस्तुत किया जाए।

व्यावसायिक शिक्षा को हमेशा कम दर्जा ही दिया गया है जबकि लिबरल एजूकेशन को उच्च शिक्षा और वांछनीय व्यवसाय प्राप्त करने के मार्ग के रूप में देखा जाता रहा है। व्यावसायिक शिक्षा को अन्तिम विकल्प के रूप लिया जाता है, एक ऐसा विकल्प जिसे सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में खराब प्रदर्शन करने पर तथा कोई और विकल्प न बचने पर चुना जाता है। आर्थिक मजबूरियों के चलते कम उम्र में ही काम शुरू करने के साथ भी इसे जोड़ा गया है, जिससे इस विकल्प को अपनाने में वंचित पृष्ठभूमि के बच्चों की संख्या सर्वाधिक होती है। इसके परिणामस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण प्राप्त लोगों को सामान्यतया साधारण नौकरियाँ मिलती हैं और इन कोर्सों को करने वाले खुद को कमतर समझने लगते हैं। दूसरी ओर शिक्षा विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक नहीं हो सकती- आजीविका कमाना महत्वपूर्ण है और इस क्षमता को जल्द ही शुरू कर देना चाहिए। सभी बच्चों को कार्यस्थल की समझ होनी चाहिए और साथ ही कुछ मौलिक क्षमताओं का विकास भी करना चाहिए जैसे प्रश्न पूछने और आलोचना करने की क्षमता, समस्याओं को सुलझाना और सोच-समझ कर निर्णय लेना।

वर्तमान में नीति की व्यापक सिफारिश यह है कि व्यावसायिक शिक्षा आकांक्षापूर्ण हो, रोजगार योग्यता सम्बन्धी कौशलों और उद्यमशीलता को विकसित करने वाली हो और देश के सभी स्कूलों के 25% स्कूल नवीं कक्षा से व्यावसायिक शिक्षा का विकल्प देते हों। पर जमीनी स्तर पर जो हालत है, वह इस सिफारिश की पूर्ति के बारे में आश्वस्त नहीं करती।

शिक्षक जवाबदेही

मुख्य रूप से शिक्षकों को ही बच्चों के अधिगम के लिए जिम्मेदार माना जाता है। शिक्षण-अधिगम की गुणवत्ता में सुधार लाने के उद्देश्य से जो कार्यक्रम व हस्तक्षेप मौजूद हैं उन्हें लागू तो शिक्षक ही करेंगे, तो इस दृष्टि से भी शिक्षकों को महत्वपूर्ण माना जाता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में कहा गया है कि 'शिक्षा की कोई भी व्यवस्था अपने अध्यापकों की श्रेष्ठता से ऊपर नहीं उठ सकती और अध्यापकों की श्रेष्ठता उन्हें चुनने के साधन, प्रशिक्षण प्रक्रिया और उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने के लिए प्रयुक्त नीतियों पर निर्भर करती है।' पर साथ ही शिक्षकों की स्वायत्तता को शीर्ष-पाद उपागम (top-down approach), शिक्षक तैयारी के कार्यक्रमों और शिक्षक सहायता व्यवस्था के माध्यम से व्यवस्थित रूप से नकार दिया गया है। शिक्षक तैयारी के कार्यक्रम परम्परागत प्रक्रियाओं का पालन करते हैं, ये ऐसे शिक्षक तैयार नहीं करते जो चिन्तनशील हों। शिक्षक सहायता व्यवस्था की बात आँकड़े जमा करने और सूचनाएँ प्रसारित करने तक सीमित हो गई हैं।

कुछ देशों में मानकीकृत परीक्षणों पर विद्यार्थियों के द्वारा दिए जाने वाले अंकों (स्कोर) के आधार पर शिक्षकों का

मूल्यांकन, पुरस्कृत करना या नौकरी से निकाला जाता है। लेकिन इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि जिन शिक्षकों के विद्यार्थी खराब प्रदर्शन करते हैं वे वाकई 'कमजोर' हैं या फिर उन्हें अधिक 'प्रभावी' शिक्षकों से बदला जा सकता है। हालाँकि कुछ वास्तविक सबूत और लघु अध्ययन उपलब्ध हैं लेकिन उन निष्कर्षों का सामान्यीकरण में विस्तार नहीं किया जा सकता। इस बात का कोई ठोस सबूत नहीं है अगर विद्यार्थियों के प्रदर्शन में बेहतरी होने पर शिक्षकों को प्रोत्साहन दिया जाए तो उनके अभिप्रेरण में सुधार होगा। दूसरी ओर इस बात के सबूत सामने आ रहे हैं कि 'परीक्षा-आधारित जवाबदेही' वास्तव में शिक्षक को कमजोर बनाती है, उनके मनोबल को घटाती है और पाठ्यक्रम को परीक्षा में जितना पूछा जाएगा, उतने तक सीमित कर देती है। किस चीज का आकलन होना है-यह बात परीक्षण की प्रकृति से सीमांकित हो जाती है-यह काफी हद तक विश्वसनीयता और वैधता तथा स्कोरिंग की आसानी और निरन्तरता की आवश्यकता से प्रेरित है। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर किए जाने वाले अधिकांश आकलन बहुविकल्पीय प्रश्नों का निर्माण करते हैं। बच्चे पूछताछ व चिन्तन कैसे करते हैं, सवाल कैसे पूछते हैं, समस्याएँ कैसे सुलझाते हैं, अपने ज्ञान का व्यवस्थापन कैसे करते हैं, समूह कार्य में उनका योगदान कैसा होता है-इस तरह की बातों का आकलन नहीं हो पाता।

इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि शिक्षक-शिक्षा, लाइसेंस, भर्ती और व्यावसायिक विकास से सम्बन्धित नीतियाँ विद्यार्थियों के प्रदर्शन में सुधार से सम्बन्धित हैं। स्कूल में अगर सहयोगात्मक वातावरण हो और चिन्तन व सहभागिता के लिए समय मिलता हो तो इनसे भी शिक्षक की प्रभावशीलता बेहतर होती है। जब शिक्षकों को उनसे की जाने वाली अपेक्षाओं और इन अपेक्षाओं के औचित्य के बारे में स्पष्ट रूप से बताया जाता है और उन्हें शैक्षिक प्रक्रियाओं में साझेदार बनाया जाता है, उन्हें केवल एक प्राप्तकर्ता नहीं माना जाता; तो ऐसी स्थिति उनकी जवाबदेही बढ़ी है।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जो पूछा जाना चाहिए वह यह है कि क्या शिक्षकों को विद्यार्थियों के अधिगम के लिए जवाबदेह मानने के लिए यह सरल दृष्टिकोण उचित है? वह भी ऐसी हालत में जब न तो शिक्षकों के काम करने की परिस्थितियों और वातावरण की जाँच की जाती है और न ही उन्हें अपने सेवाकालीन विकास के अवसर और समर्थन दिए जाते हैं।

कक्षा में रोके न जाने की नीति

भारत में कक्षा में रोके न जाने की अवधारणा नई नहीं है। बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 2009 (आर.टी.ई.) का अधिकार लागू होने से पहले 28 राज्यों और संघ शासित प्रदेशों में कक्षा में रोके न जाने की नीति (एन.डी.पी.) प्रचलन में थी। आर.टी.ई. से पहले, 36% राज्यों में कक्षा पाँच तक और क्रमशः दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी कक्षा तक, तुलनीय अनुपात में; दो राज्यों में चार दशकों से एन.डी.पी. प्रचलन में थी।

आर.टी.ई. ने 01 अप्रैल 2010 से कक्षा आठ तक, व्यापक और सतत मूल्यांकन (सी.सी.ई) के प्रावधान के साथ, सभी राज्यों में कक्षा में रोके न जाने की नीति को अनिवार्य कर दिया। इसके पीछे अन्तर्निहित विश्वास यह है कि हर बच्चा सीख सकता है और महारत हासिल कर सकता है, केवल सीखने की व्यक्तिगत गति भिन्न हो सकती है। इसलिए सीखने के व्यापक संकेतों को परिभाषित करने से, जिसमें संज्ञानात्मक और अन्य क्षेत्र जिन्हें पाठ्यविषयेतर क्षेत्र कहा जाता है दोनों आ जाते हैं, बच्चे के अधिगम और विकास पर नजर रखने में सहायता मिलती है। इन संकेतकों के आधार पर लगातार बच्चे का आकलन करने से उन सम्भावित क्षेत्रों को मजबूती प्रदान करने में मदद मिलती है जिनमें शायद बच्चा 'पीछे छूट गया हो'। अतः अगर कोई बच्चा नहीं सीख रहा है तो इसका कारण या तो वे संरचनाएँ हैं जो अधिगम को ठोस सीमाओं या चरणों में बाँधकर रख देती हैं या स्कूल और कक्षा की प्रक्रियाएँ हैं।

कक्षा में रोके न जाने की नीति (एन.डी.पी.) की बहुत आलोचना हुई है। सबसे बड़ी आपत्ति यह कि इसकी वजह से शिक्षक और विद्यार्थी अधिगम को गम्भीरता से नहीं लेते, कि इसके कारण शिक्षक की जवाबदेही कम हो गई है, बच्चे को उसी कक्षा में रोक लेना उपचारात्मक होगा और अन्ततः बच्चे को इससे लाभ होगा, प्रारम्भिक चरण के बाद बच्चे बड़ी कक्षाओं की पढ़ाई का सामना नहीं कर पाते इत्यादि। यूँ तो दुनिया भर में सदियों से किए गए अध्ययन इन तर्कों में से किसी का समर्थन नहीं करते लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि कक्षा में रोका जाना स्कूल छोड़ने (ड्रॉप

आउट) का मुख्य संकेतक है, जिसके साथ और भी कई बातें जुड़ी हैं जैसे उच्च शिक्षा में निम्न नामांकन दर, कमाने की क्षमता में कमी और वयस्क जीवन में कुसमायोजन आदि। जो बच्चे किसी कक्षा में दुबारा पढ़ाई करते हैं उनके अधिगम के परिणाम उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों की तुलना में कमतर होते हैं; उनमें आत्मसम्मान की भावना कम हो जाती है और वे कक्षा के क्रियाकलापों से कटे-कटे से रहते हैं। जो बच्चे तरुणावस्था में प्रवेश कर रहे होते हैं उनके लिए यह स्थिति बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाती है क्योंकि वे उम्र में अपने सहपाठियों से बड़े होते हैं। जिन बच्चों को फेल होने का खतरा होता है वे वंचित समूहों और घरों के होते हैं जो उनकी पढ़ाई और अधिगम में उनकी सहायता नहीं कर पाते।

हालाँकि इसके कुछ तात्कालिक लाभ हो सकते हैं लेकिन ये भी कुछ ही सालों में फीके पड़ जाते हैं और उन हस्तक्षेपों से जुड़े हुए हैं जो व्यक्तिगत समर्थन प्रदान करते हैं और माता-पिता को सम्मिलित करते हैं। ये हस्तक्षेप हैं- उच्च गुणवत्ता वाले पाठ्यक्रम और शिक्षण; शिक्षकों का व्यावसायिक विकास; प्राथमिक कक्षाओं का आकार कम करना; विद्यार्थियों और शिक्षकों को एक वर्ष से अधिक समय के लिए साथ रखना; विद्यार्थी समूहीकरण के प्रभावी तरीकों का उपयोग करना; अधिगम की कठिनाइयों पर शुरू में ही ध्यान देना न कि उन्हें इकट्ठा करते जाना; प्रत्यक्ष शिक्षण, व्यक्तिगत कार्यक्रम, रचनात्मक आकलन; ग्रीष्मकालीन स्कूल, अपने बच्चों की शिक्षा और स्कूलों के साथ भागीदारी के प्रति माता-पिता का रवैया और प्रारम्भिक बाल्यावस्था कार्यक्रम। इस प्रकार फेल करना अपने आप में हस्तक्षेप नहीं हो सकता-इसे ऐसे अभ्यासों द्वारा समर्थित होना चाहिए जो प्रभावी अध्यापन और मूल्यांकन के साथ मिले हुए हों।

क्या समाधान सम्भव है?

एक बात तो स्पष्ट है कि इनमें से किसी मुद्दे पर या किसी अन्य मुद्दे पर पूरी सहमति सम्भव नहीं है। तो प्रश्न उठता है कि किसी एक विचार के पक्ष या विपक्ष में दिए गए अनेक तर्कों की जाँच कैसे की जाए और किसी ऐसे समाधान पर कैसे पहुँचा जाए जो कुछ बुनियादी सिद्धान्तों को सन्तुष्ट कर सके। संवैधानिक मूल्य ही ऐसे मूल्य हैं जो किसी चर्चा का मार्गदर्शन कर सकते हैं। इसलिए इन विवादों की जाँच करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि उसमें साम्यता, पहुँच और गुणवत्ता के सरोकार निहित हैं या नहीं। साम्यता यानी असमानता को कम करना और किसी भी प्रकार के स्तरीकरण या विभेदन में कुछ और न जोड़ना, पहुँच यानी भौतिक वातावरण और अधिगम के अनुभवों में पहुँच और गुणवत्ता यानी उन सभी पहलुओं की गुणवत्ता जो बेहतर शैक्षिक प्रक्रियाओं की ओर ले जाते हैं और इस वजह से सीखने के परिणाम बेहतर होते हैं।

तो अब प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे निर्धारित करें कि कोई नीति साम्यतापूर्ण है, न्यायोचित है और पहुँच व गुणवत्ता दोनों सुनिश्चित करती है? एक तरीका तो यह हो सकता है कि अच्छी तरह से विचारित रूपरेखा के सन्दर्भ में जमीनी स्तर पर स्थिति की जाँच की जाए और दूसरा यह कि संसार भर में हुए अध्ययनों के प्रमाण देखे जाएँ। इस स्थिति में एक प्रश्न और सामने आता है-हमारे सन्दर्भ में कौन-सा प्रमाण विश्वसनीय और प्रासंगिक है? एक बार इस प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान मिल जाए तो फिर शिक्षा के मूल सिद्धान्तों और नीति तैयार करने की प्राथमिकता के अनुरूप शोध के निष्कर्षों पर विचार किया जाना चाहिए।

Bibliography :

1. Central Advisory Board of Education (CABE). (2014). Report of the CABE Sub-Committee on assessment and implementation of CCE and no-detention provision (under the RTE Act 2009). New Delhi: Government of India
2. Department of School Education and Literacy, Ministry of Human Resource Development. (2012). National Policy on Information and Communication Technology (ICT) in School Education. New Delhi: Government of India
3. Dewey, J. (1916). Democracy and Education. New York: Columbia University.
4. Government of India. (1968). National Policy on Education. New Delhi: MHRD
5. Government of India. (1992). National Policy on Education 1986. Modified 1992. New Delhi: MHRD
6. Government of India. (2005). Report of the Committee on National Common Minimum Programme's Commitment of Six Per Cent of GDP to Education. New Delhi: National Institute of Educational Planning and Administration
7. Government of India. (2012). Vocational Education in Secondary Education. Presentation at Conference of State Education Secretaries. New Delhi: MHRD
8. Government of India. (2015). National Policy on Skill Development and Entrepreneurship. New Delhi: Ministry of Skill Development and Entrepreneurship.
9. Heubert, J.P. (2003). First, do no harm. Equity and Opportunity, Vol 60, No 4, pp. 26-30. Accessed at: http://www.ascd.org/ publicati ns/educati nal-leadership/dec02/vol60/num04/First,- Do-No-Harm.aspx

10. Ikeda, M., I., García, E. (2014), Grade repetition: A comparative study of academic and non-academic consequences. OECD Journal: Economic Studies, Vol. 1. Accessed at http://dx.doi. org/10.1787/eco_studies-2013-5k3w65mx3hnx
11. Levitt, R., Janta, B., Wegrich, K. (2008). Accountability of teachers. Literature review. Cambridge: Rand Corporation.
12. Ministry of Education, Government of India. (1953). Report of the Secondary Education Commission. Mudaliar Commission Report. New Delhi: Government of India
13. Ministry of Education, Government of India. (1966). Education and National Development. Report of the Education Commission 1964-66. New Delhi: Government of India
14. National Council for Educational Research and Training (NCERT). (2005). National Curriculum Framework 2005. New Delhi: NCERT
15. OECD. (1998). What proportion of national wealth is spent on education? Education at a glance: OECD indicators. http://www. oecd-ilibrary.org/education/education-at-a-glance-1998_eag- 1998-en
16. Open Government Data (OGD) Platform India, Government of India. (2015). Progress Report of Village Electrification. https:// data.gov.in/catalog/progress-report-village-electrification
17. Tilak, J.B.G. (1998). Vocational Education in South Asia: Problems and Prospects. International Review of Education, Vol 34, No. 2, pp. 244-257

निमरत खण्डपुर पिछले छह वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ कंटिन्यूइंग एजुकेशन और यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेंटर से सम्बद्ध हैं जहाँ उन्होंने व्यावसायिक विकास कार्यक्रमों में योगदान दिया है। निमरत शिक्षा नीति, शिक्षक शिक्षा और आकलन के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। वे दिल्ली के राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में रिसर्च फैलो और कोलकाता के साहा परमाणु भौतिकी संस्थान में एसोसिएट रही हैं। उन्होंने उच्च शैक्षिक पुस्तकों और पेशेवर पत्रिकाओं में सम्पादिका और एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश में शिक्षक प्रशिक्षक के रूप में भी कार्य किया है। उनसे nimart.kaur@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2016 (प्रारूप) के प्रस्ताव में चर्चा के लिए कुछ बिन्दु

अर्चना मेहेंदले एवं राहुल मुखोपाध्याय





2015-16 में शिक्षा की नई राष्ट्रीय नीति पर बड़ी तेज गति से और व्यापक स्तर पर परामर्श किए गए। उसके बाद पिछले साल के अन्त तक यह प्रक्रिया धीमी पड़ गई। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने घोषणा की कि नीति का प्रारूप तैयार करने के लिए एक समिति स्थापित की जाएगी और टी.आर.एस. सुब्रह्मण्यम समिति की रिपोर्ट को एक इनपुट के रूप में ही लिया जाएगा। मंत्रालय की आधिकारिक वेबसाइट न तो नई समिति के सदस्यों के नाम सूचीबद्ध करती है और न ही उस नीति का कोई प्रारूप पेश करती है जो निर्माणाधीन है। इस लेख में हम कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे जो मानव संसाधन विकास मंत्रालय के नोट में बताए गए हैं और जिसे राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2016(प्रारूप) के लिए कुछ इनपुट की संज्ञा दी गई है और साथ ही प्रस्तावित प्रावधानों को प्रभावित करने वाली कुछ बातों पर चर्चा करेंगे।

1. 'राष्ट्र स्तर पर सन 2000 से 6 से 13 वर्ष के स्कूल न जाने वाले बच्चों के प्रतिशत में महत्वपूर्ण रूप से कमी आई है। तथापि स्कूल न जाने वाले बच्चों की संख्या अभी भी ज्यादा है। प्राथमिक शिक्षा की तुलना में उच्चतर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में अपेक्षाकृत घटा हुआ नामांकन भी एक चिन्ता का विषय है। सार्वभौमिक माध्यमिक शिक्षा हासिल करने के लिए बुनियादी से माध्यमिक स्तर में विद्यार्थियों के आगे बढ़ने को सुनिश्चित करना और माध्यमिक स्तर से उच्चतर माध्यमिक तथा तृतीयक शिक्षा तक आगे बढ़ना भी चुनौती बना हुआ है'(पृ. 8)।

विचार-विमर्श

'विद्यार्थियों के आगे बढ़ने' की चुनौती की अभिव्यक्ति बच्चों के विभिन्न समूहों और शिक्षा के विभिन्न स्तरों में मौजूद अन्तर को अनदेखा करती सी प्रतीत होती है (गोविन्दा एवं बन्दोपाध्याय, 2011: Zones of Exclusion)। दोनों तंत्रगत बहिष्करण (प्रेरित करने वाले कारकों के सन्दर्भ में) और विभिन्न प्रकार की असुविधाएँ (भौगोलिक और वर्णनात्मक तथा गैर-वर्णनात्मक सामाजिक वर्गीकरण) इस तरह के निरूपण में अनदेखे रह जाते हैं। हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि हालाँकि बच्चों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम, 2009 (आर.टी.ई. अधिनियम) में एक अनिवार्य विधायी रूपरेखा प्रदान की गई है, पर वंचित बच्चों को बेहद असमान शर्तों पर शिक्षा में शामिल किया जाता है (डायर, 2013)। आर.टी.ई. अधिनियम (खण्ड 4) में, स्कूल में भर्ती नहीं हुए बच्चों या विशेष प्रशिक्षण के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा तथा अपनी आयु के अनुसार नामांकन प्राप्त नहीं करने वाले बच्चों के लिए जो विशेष प्रावधान है, उस पर विशेष रूप से जोर देने की आवश्यकता है।

2. 'विद्यालयी शिक्षा में सबसे बड़ी चुनौती विद्यार्थियों के सीखने के असन्तोषजनक स्तर से जुड़ी हुई है। कक्षा III,V,VIII और X को शामिल करते हुए राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण (एन.ए.एस.) यह बताते हैं कि विद्यार्थियों के एक बड़े भाग का स्तर अधिगम के अपेक्षित स्तर के बराबर नहीं है। प्राथमिक और उच्च प्राथमिक स्तरों पर अधिगम की खराब गुणवत्ता माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों के अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। माध्यमिक स्तर पर अधिगम की खराब गुणवत्ता कॉलेज/विश्वविद्यालय के वर्षों तक पहुँच जाती है जिसके कारण उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में अधिगम के घटिया परिणाम सामने आते हैं।

   विद्यालयी शिक्षा की असन्तोषजनक गुणवत्ता के लिए कई कारक जिम्मेदार हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं - ऐसे स्कूलों की संख्या बहुत ज्यादा है जो विद्यालय के लिए निर्धारित मानकों और मानदण्डों के अनुरूप नहीं हैं; विद्यार्थियों और शिक्षकों की अनुपस्थिति; शिक्षकों के अभिप्रेरणा स्तर और प्रशिक्षण में गम्भीर अभाव जिसके परिणामस्वरूप शिक्षक गुणवत्ता और प्रदर्शन में कमी आना; शिक्षा में सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों के उपयोग में धीमी प्रगति; कार्मिक प्रबन्धन का उचित उपयोग न होना; निगरानी और कार्य निष्पादन की देखरेख पर समुचित ध्यान न दिया जाना आदि। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने में सरकारी तन्त्र के स्कूलों की स्पष्ट असफलता ने बड़ी संख्या में निजी स्कूलों के इस क्षेत्र में प्रवेश को बढ़ाया है। इनमें से बहुत से स्कूल ऐसे हैं जिनमें बुनियादी अवसंरचना, सीखने के माहौल और सक्षम शिक्षकों का अभाव है' (पृ. 9)।

विचार-विमर्श

ऐसा लगता है कि शिक्षा की गुणवत्ता के बारे में समझ बहुत सीमित है और मुख्य रूप से सीखने के परिणामों पर सीमित है। विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि आर.टी.ई. अधिनियम में भी 'गुणवत्ता' को अपर्याप्त रूप से सम्बोधित किया गया है, जिसमें गुणवत्ता को सिर्फ स्कूल पर आधारित इनपुट के मानकों, गुणवत्ता के वर्तमान प्रावधान में अपर्याप्त अन्तर-मानदण्ड संयोजन, वांछित मानदण्डों का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रावधानों की अपर्याप्तता के आधार पर समझा गया है। हालाँकि इसे अनिवार्यतः सिर्फ सीखने के परिणामों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सम्बोधित नहीं किया गया है। 'शिक्षा की गुणवत्ता' के लिए एक ऐसी बहुआयामीय रूपरेखा की आवश्यकता है जो अग्रलिखित बातों के विश्लेषण पर आधारित हो (i) विभिन्न प्रदाताओं में गुणवत्ता की बहुविध किन्तु तुलनीय व्याख्याएँ (सरकारी और निजी प्रदाताओं के बीच गुणवत्ता के अन्तर के मुद्दे से सम्बन्धित) और अभिगम समूहों (वंचित समूहों के लिए विविध आकांक्षाओं और शैक्षणिक सन्दर्भों के मुद्दे से सम्बन्धित); और (ii) शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए आवश्यकता के अनुसार प्रणाली के स्तरों और संस्थानों के बीच अन्तर-सम्बन्ध (सीखने के उन्नत परिणामों सहित) (c.f.Mehendale, 2014)।

सीखने के परिणामों पर बहुत ध्यान देने वाली बात पाठ्यचर्या और आकलन से सम्बन्धित सिफारिशों में भी दिखाई देती है। जो यह सुझाती हैं कि 'पाठ्यचर्या ऐसी होनी चाहिए जो विद्यार्थियों को अधिगम परिणामों में उत्कृष्ट उपलब्धि के अवसर प्रदान कराए और जिसकी तुलना उच्च कार्य निष्पादन अन्तर-राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी अधिगम परिणामों से की जा सके' (पृ. 21)।

बुनियादी ढाँचे के मानकों को कम करने की अनुमति के सन्दर्भ में आर.टी.ई. अधिनियम में संशोधन करने और सीखने के परिणामों को शामिल करने का प्रस्ताव समस्यापूर्ण है। सबसे पहले तो अधिगम के परिणामों की अवधारणा को अकादमिक योग्यता के रूप में देखना आर.टी.ई. अधिनियम की धारा 29 के अन्तर्गत बताए हुए पाठ्यक्रम के उद्देश्य के खिलाफ है। जिसमें कहा गया है कि शिक्षा बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए है और उन्हें अपनी पूरी क्षमता का एहसास करने में मदद करने के लिए है। दूसरे, कानून में अधिगम के परिणामों को शामिल करना जोखिम भरा है क्योंकि अनुपालन में विफल होने के कानूनी परिणाम होंगे। नीति के प्रस्ताव में अधिगम के परिणामों को पाने की असफलता को शिक्षक के प्रदर्शन और शिक्षकों की जवाबदेही के साथ जोड़ने की बात कही गई है। अधिगम के परिणाम न पाने में विद्यार्थियों की अक्षमता जटिल कारकों का परिणाम है और इसके लिए शिक्षकों को पूरी तरह जिम्मेदार ठहराना अनुचित होगा।

3. साम्यता के मुद्दे (पृ. 10-11) और 'आर.टी.ई अधिनियम के अधिनियम के खण्ड 12 (1) (सी) के सरकारी सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक संस्थाओं (धार्मिक और भाषायी) में विस्तार सम्बन्धी मामले की आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के प्रति बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के मद्देनज़र जाँच की जाएगी' (पृ. 20)।

   'आर.टी.ई. अधिनियम द्वारा निर्धारित मानदण्डों के दायरे में राज्य, स्थानीय दशाओं के मद्देनजर अवसंरचना के डिजाइन एवं उसकी योजना बनाने में लचीलापन बरत सकेंगे। स्थानीय दशाओं के अनुरूप 'वैकल्पिक स्कूलों', जो अत्यधिक रूप से वंचित एवं विस्थापित बच्चों की विशेष श्रेणियों तथा कठिन परिस्थितियों में रहने वाले उन बच्चों के लिए शैक्षिक हस्तक्षेप उपलब्ध कराते हैं, हेतु यदि आवश्यक हुआ तो आर.टी.ई. अधिनियम में संशोधन के माध्यम से स्थानीय मापदण्ड तैयार किए जाएँगे' (पृ. 19)।

   'पढ़ाई बीच में छोड़ देने वाले और काम-काजी बच्चों को बिना पूर्णकालिक औपचारिक स्कूलों में उपस्थित हुए अपनी पढ़ाई करने में समर्थ बनाने के लिए मुक्त स्कूली शिक्षा सुविधाओं का विस्तार किया जाएगा' (पृ.20)।

विचार-विमर्श

आर.टी.ई.अधिनियम के कई प्रावधान हैं जो साम्यता सम्बन्धी सरोकारों को सम्बोधित करते हैं। आगे दी गई तालिका इसका सार प्रस्तुत करती है :

हालाँकि सरकार द्वारा सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक संस्थानों (धार्मिक और भाषायी) के लिए आर.टी.ई. अधिनियम की धारा 12 (1) (C) के विस्तार का विचार एक अच्छी बात है, लेकिन एन.ई.पी. को आर.टी.ई. में मौजूद साम्यता के प्रावधानों पर इन उपयुक्त उपायों पर भी जोर देना चाहिए :

अधिनियम के प्रावधान	आदेश की प्रकृति	मुख्य अवधारणा	सहायक अवधारणा
4	स्कूल में भर्ती नहीं हुए बच्चों या विशेष प्रशिक्षण के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा तथा अपनी आयु के अनुसार नामांकन पूरा नहीं करने वाले बच्चों के लिए विशेष प्रावधान है	साम्यता (स्कूल के बाहर वाले बच्चों पर ध्यान देना - मुख्य रूप से उपेक्षित समूह से)	गुणवत्ता (विशेष प्रशिक्षण और उसके तरीके के रूप में)
8 (c) 9 (c) 9 (k)	कमजोर वर्गों और वंचित समूहों के बच्चों के खिलाफ भेदभाव की रोकथाम प्रवासी परिवारों के बच्चों के प्रवेश सुनिश्चित करना	साम्यता	जवाबदेही
12 (1) (c)	कमजोर वर्गों और वंचित समूहों के बच्चों के लिए निजी स्कूलों में 25% का प्रावधान	साम्यता	विनियमन
12 (2)	सरकार द्वारा स्कूलों के व्यय के 25% प्रतिपूर्ति का प्रावधान	साम्यता	विनियमन

क) हाशिए पर गए समूहों (विशेषकर वंचित समूहों) का मुख्यधारा की स्कूली शिक्षा में एकीकरण;

ख) सभी प्रकार के स्कूलों में स्कूल के भीतर होने वाले भेदभाव को सम्बोधित करना;

ग) 12 (1) (C) के लिए पर्याप्त और समय पर वित्त पोषण सुनिश्चित करके अपनी प्रतिबद्धता को मजबूत करना (निजी स्कूलों के लिए प्रतिपूर्ति के मामले में 25% प्रावधान के लिए);

घ) सरकारी और निजी दोनों स्कूलों में विशिष्ट प्रावधानों के अनुपालन के लिए उत्तरदायित्व और विनियमन।

गम्भीर रूप से वंचित और प्रवासी बच्चों के लिए 'वैकल्पिक स्कूलों' के मामले की समीक्षा आर.टी.ई. प्रावधानों के अनुसार भौतिक इनपुट और प्रतिमानों के मानकों पर तथा स्कूल की बुनियादी अवसंरचना के मानकों पर की जानी चाहिए। 'वैकल्पिक स्कूल' वंचित और प्रवासी बच्चों के लिए विभेदित (कम गुणवत्ता वाले) शिक्षा प्रदान करने का तरीका नहीं बनना चाहिए। यही बात 'स्कूल छोड़ने और कामकाजी बच्चों के लिए मुक्त स्कूल प्रणाली' पर भी लागू होती है।

4. अभिशासन और प्रबन्धन (पृष्ठ 12) -

'शिक्षा प्रणाली और संस्थाओं में विशेषकर तृतीयक शिक्षा के स्तर पर शासन और प्रबन्धक का मामला प्रदायकों, कार्यक्रमों और पोषण के तरीकों की बहुलता के आने के साथ ही जटिलता आ गई है...

स्कूल और उच्चतर शिक्षा के उप-क्षेत्रों में घोर वाणिज्यीकरण मौजूद है जैसा कि निजी शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए लगाए गए शुल्कों से परिलक्षित होता है। अवमानक शिक्षण संस्थाओं की भरमार से शिक्षा प्रणाली की साख में कमी आई है'।

विचार-विमर्श

पहला प्रेक्षण विद्यालय शिक्षा के लिए भी सही है। निजी गैर-अनुदानित स्कूल अब 'विविध शुल्क (फीस) संरचनाओं के साथ अलग-अलग प्रकार का संचालन करते हैं, ये स्कूल कम फीस से उच्च वर्गीय, उच्च फीस वाले स्कूल' और 'स्वैच्छिक संगठनों, मिशनरियों, परोपकारी निकायों या व्यक्तिगत मालिकों द्वारा व्यावसायिक उद्यमों के रूप में चलाए जा सकते हैं' (श्रीवास्तव, नोरोन्हा और फैनेल, 2013:4)।

इसके अलावा वैकल्पिक स्कूल, प्रगतिशील स्कूल और धर्मार्थ न्यासों, नई उम्र के शैक्षिक उद्यमियों (edupreneurs) तथा विभिन्न प्रकार के कॉर्पोरेट निकायों द्वारा चलाए जाने वाले स्कूल हैं जो स्कूल-शृंखला या स्कूल फ्रेंचाइजी चलाते हैं। शिक्षा सेवा प्रदाताओं की संख्या भी महत्वपूर्ण रूप से बढ़ी है। एक अध्ययन के अनुसार इस प्रकार के शिक्षा सेवा प्रदाता 'हाल के वर्षों में भारतीय शिक्षा परितंत्र का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गए हैं' जो 'कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं जैसे शिक्षक व प्रबन्धन प्रशिक्षण/कार्यशालाएँ, पाठ्यचर्या प्रबन्धन, शैक्षणिक क्रियाकलाप और पद्धतियाँ' (गर्ग, 2011:35)। इस प्रकार पाठ्यक्रम और स्कूल सम्बन्धी विभिन्न उत्पादों और सेवाओं का वित्त पोषण और वितरण दोनों ही अब जटिल संस्थागत प्रणालियों के माध्यम से होता है जिसमें शिक्षा बाजारों पर ध्यान केन्द्रित करने वाली उद्यम पूँजी कम्पनियाँ, कई प्रकार की सार्वजनिक-निजी भागीदारियाँ और स्कूलों के

औपचारिक संस्थागत ढाँचे के साथ मौजूद अनौपचारिक/ छाया संस्थागत रूपरेखा के माध्यम से सामाजिक प्रभाव के निवेश शामिल हैं।

इसलिए उपर्युक्त स्थिति के लिए पर्याप्त और प्रभावी नियामक वातावरण पर बल देने की आवश्यकता है। यह अत्यन्त उपेक्षित क्षेत्र है। अभिशासन और प्रबन्धन अनुभाग भी आर.टी.ई. अधिनियम के साथ सभी कार्यक्रमों और योजनाओं (एस. एस.ए.सहित) की सुसंगतता पर जोर नहीं देता; इस तरह का आदेश एस.एस.ए. के कार्यान्वयन के लिए संशोधित रूपरेखा में निर्दिष्ट किया गया है (SSA, 2011; see, especially Chapter 7: Management and Monitoring)।

5. 'सुविधा वंचित वर्गों से सम्बन्धित बच्चों पर विशेष ध्यान देते हुए प्रारम्भिक शिक्षा में सुगमता से शामिल होने के लिए 4 से 5 वर्ष के आयु वर्ग के सभी पूर्व स्कूली बच्चों के लिए आवश्यक अधिगम और विकासात्मक तैयारी स्तर को हासिल करना सुनिश्चित करने के लिए शुरुआती बाल्यावस्था शिक्षा सेवाओं का विस्तार करना (पृ.15)।

विचार-विमर्श

यह बात अच्छी है कि नीति के प्रस्ताव छोटे बच्चों की शिक्षा पर बहुत अधिक जोर देते हैं और यह प्रावधान अनुच्छेद 21A में शामिल नहीं था। यद्यपि नीति प्रारम्भिक शिक्षा पर बहुत जोर देती है तथापि इस प्रस्ताव में कुछ समस्याएँ हैं। पहली, इसमें चार से पाँच साल के बच्चों की बात कही गई है जो पहली कक्षा में शामिल होने वाले बच्चों की आयु (छह साल) के साथ मेल नहीं खाती। प्रारम्भिक देखभाल और शिक्षा में देखभाल वाले आयाम को छोड़ दिया गया है। एक समर्पित शिक्षक के लिए संसाधन जुटाने के लिए फंड आबंटित करने की बजाय आँगनवाड़ी के कार्यकर्ता पर ई.सी.ई. प्रदान करने का बोझ डाल दिया गया है। एक ओर तो ई.सी.ई. के प्रावधान विभिन्न जरूरतों के लिए पहुँच, समावेशन और जवाबदेही के लिए प्रतिबद्ध हैं तो दूसरी ओर ई.सी.ई. के लिए लक्षित आधार पर व्यवस्था कराने की प्रतिबद्धता द्वारा नकार दिया गया है।

6. 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एन.ई.पी.), 2016 एक ऐसी विश्वसनीय और उच्च प्रदर्शनकारी शिक्षा प्रणाली पर विचार करती है जो सभी के लिए समावेशी गुणवत्तायुक्त शिक्षा व सीखने के जीवनपर्यन्त अवसर सुनिश्चित करें तथा ऐसे विद्यार्थी/स्नातक तैयार करें जो उन ज्ञान, दक्षताओं, भावों और मूल्यों से लैस हों जो तेजी से बदल रहे वैश्वीकरण, ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था और समाज की आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित हैं' (पृ.14)।

विचार-विमर्श

इस विजन के शब्द अपने में सब कुछ समो लेते हैं और इनमें सारे सही अर्थ देने वाले शब्द समाहित हैं। यह 2030 के एजेंडा और चिरकालिक विकास के लक्ष्यों के तहत हमारी अन्तर-राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं को दर्शाता है। हालाँकि इनमें कुछ अन्तर्निहित चिन्ताएँ हैं और यह स्पष्ट नहीं है कि ये कैसे हल होंगी। उदाहरण के लिए, यदि वैश्विक अर्थ व्यवस्था में एकीकृत होने का विजन योग्यता के विचार तक पहुँचा जो कि सामाजिक न्याय और साम्यता के विचार के प्रतिकूल है तो समावेशी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का विचार प्रभावित हो सकता है। इस विजन को विशेष रूप से नीति के प्रावधानों के जरिए लागू किया जाना चाहिए ताकि उनके कार्यान्वयन में मदद मिल सके।

7. 'प्रत्येक राज्य कम नामांकन एवं अपर्याप्त अवसंरचना वाले स्कूलों की पहचान करने के लिए स्कूल कार्यनीति पर बड़े पैमाने पर कार्य करेगा। जहाँ भी सम्भव होगा भौतिक एवं अवसंरचनात्मक संसाधनों, बेहतर शैक्षिक कार्यप्रदर्शन एवं लागत प्रभावी प्रबन्धन के इष्टतम उपयोग के लिए मौजूदा अव्यवहार्य स्कूलों को समेकित स्कूलों में परिवर्तित करने के प्रयास किए जाएँगे। जब स्कूलों का विलय कर दिया जाएगा तब उन्हें एक ही परिसर में स्थापित किया जा सकेगा। राज्यों के परामर्श से आर.टी.ई. अधिनियम में ढील दिए बिना विलय एवं समेकन हेतु सामान्य दिशानिर्देश तैयार किए जाएँगे। यह समेकन देश को सामने दिखाई देने वाले भविष्य में एक-कक्षा एक-मानक की प्राप्ति में समर्थ बनाएगा' (पृ.20)।

विचार-विमर्श

यहाँ 'आर.टी.ई. अधिनियम में ढील दिए बिना' पर ध्यान दिया जाना चाहिए। स्कूल और शिक्षक संसाधनों को तर्कसंगत बनाने के लिए दृष्टिगत वर्तमान प्रयासों के सन्दर्भ में यह

आर.टी.ई. के मानकों को बाधित कर रहा है। उदाहरण के लिए कुछ छोटी ग्रामीण/आदिवासी बस्तियों के अल्पसंख्यक स्कूली बच्चे इसलिए कष्ट उठा रहे हैं क्योंकि स्थानीय स्कूलों को बड़े समुदायों की सुविधा के लिए ऐसे स्कूलों के साथ मिला दिया गया है जो दूर स्थित हैं। इसी प्रकार आर.टी.ई. के मानक न्यूनतम सुझाव हैं। पर लगता है कि राज्य के प्रयास आर.टी.ई. के मानकों को 'निर्धारित अधिकतम' के रूप में मानकर किए जा रहे हैं, विशेष रूप से शिक्षक भर्ती और तैनाती के मामले में (जहाँ कुल औसत पी.टी.आर. आर.टी.ई. के मानकों के पालन का मानदण्ड बन जाए)।

8. 'राज्य एक समुचित आयु वर्ग तक आर.टी.ई. का विस्तार करने का प्रयास करेंगे ताकि माध्यमिक स्तर की शिक्षा को समाविष्ट किया जा सके' (पृ.20)।

विचार-विमर्श

वैसे तो यह बहुत अच्छा कदम है लेकिन प्रस्तावित विस्तार पूर्व-विद्यालय शिक्षा और माध्यमिक स्तर की शिक्षा दोनों के लिए होना चाहिए और इसे आर.टी.ई. में संशोधन करके अनिवार्य और कानूनन बाध्यकारी बनाना चाहिए (केवल प्रयास मात्र नहीं)।

9. शिक्षक विकास और प्रबन्धन (पृ.28-30)

विचार-विमर्श

कुल मिलाकर ये सुझाव सकारात्मक लगते हैं। तो भी नीति को वर्तमान असंगतियों के बारे में स्पष्ट रूप से ध्यान देना चाहिए और उनका समाधान करना चाहिए। उदाहरण के लिए शिक्षक-योग्यता के नियमन की बात है। शिक्षा की गुणवत्ता के संरक्षण और विद्यार्थियों के हितों की सुरक्षा के इरादे से सरकार ने कक्षा 1-8 के शिक्षकों की नियुक्ति की पात्रता के लिए न्यूनतम योग्यता मानदण्ड निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.ई.टी.) को दिया है। इन मानकों की अधिसूचना यह सुनिश्चित करने के लिए की जाती है कि शिक्षकों और शिक्षण मानकों की न्यूनतम गुणवत्ता का पालन अनिवार्य है। एन.सी.ई.टी. निजी और सरकारी दोनों प्रकार के स्कूलों के लिए शिक्षक योग्यता के मानकों को विनियमित करती है। लेकिन जब शिक्षक योग्यता के मानकों के 'सरकार के भीतर के नियमन' की जाँच करते हैं तो एक अलग चित्र उभरकर सामने आता है। आर.टी.ई. अधिनियम राज्य सरकारों को अपने राज्यों में शिक्षक प्रशिक्षण की सुविधाओं की अनुपस्थिति के कारण योग्य शिक्षकों की भर्ती के प्रावधान से छूट प्राप्त करने की अनुमति देता है। एक बार मिलने वाली यह छूट राज्यों को एन.सी.ई.टी. द्वारा निर्धारित शिक्षक योग्यता में ढील देने की अनुमति देती है लेकिन पाँच साल से अधिक के लिए नहीं। यद्यपि इस छूट का लाभ लेने वाले अधिकांश राज्यों के लिए यह विस्तार अवधि समाप्त हो गई है, लेकिन शिक्षक योग्यता मानकों का पालन नहीं किया जा रहा है। उदाहरण के लिए राज्य सरकारों की खराब शिक्षक-शैक्षिक सुविधाएँ होने के सरोकारों और अयोग्य शिक्षकों को नियुक्त करने के उनके निर्णयों को बिना किसी मंजूरी के समायोजित किया जाता है।

इस प्रकार 'सरकार के भीतर विनियमन' एन.सी.ई.टी. के लिए एक चुनौती बनी हुई है जो सरकार को विनियमित करने में असमर्थ है, जिससे शिक्षा के बड़े सार्वजनिक उद्देश्य को बनाए रखने का इसका इरादा कमजोर पड़ रहा है।

10. 'स्वीकृत पदों के विरुद्ध योग्य शिक्षकों को लगाकर संविदा शिक्षकों को धीरे-धीरे हटाया जाएगा' (पृ.29)।

विचार-विमर्श

कई राज्यों में शिक्षक-यूनियनों द्वारा समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धान्त पर संविदा शिक्षकों की नियुक्ति को चुनौती दी गई है। गोविन्दा और जोसेफिन (2004) इस बात पर चर्चा करते हैं कि संविदागत पदों पर रहना किस प्रकार से शिक्षकों के बीच असन्तोष को बढ़ाता है, जिसका उनके कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। संविदागत नियुक्तियों को समाप्त करने के लिए केन्द्र सरकार ने एक ऐसे मामले में सकारात्मक नुस्खा बनाया है जिसे आमतौर पर राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित किया जाता है।

11. स्कूल आकलन और अभिशासन (पृ.32-33)

विचार-विमर्श

सामुदायिक भागीदारी और माता-पिता की भागीदारी के माध्यम से नीचे से ऊपर के दृष्टिकोण वाली जवाबदेही प्रक्रिया पर जोर देना प्रशंसनीय है। तथापि वर्तमान शोध से पता चलता

है कि अगर जवाबदेही के ऊपर से नीचे वाले दृष्टिकोण को बेहतर बनाना है तो इसे मौजूदा संस्थागत प्रणाली की क्षमता को मजबूत बनाने के साथ में चलना चाहिए। यह उन अध्ययनों के निष्कर्षों के साथ मेल खाता है जो यह दिखाते हैं कि सामाजिक लेखा परीक्षण (और अन्य नीचे से ऊपर के दृष्टिकोण वाली जवाबदेही प्रक्रियाएँ) वांछित हद तक प्रभावी नहीं होते जब तक कि वह ऐसी अनुक्रियाशील नौकरशाही के अनुरूप न हो जो संस्थागत प्रणाली को जवाबदेह मानने के लिए तैयार है। इसी प्रकार स्थानीय निकायों को समय पर धन मुहैया कराने के आन्तरिक तंत्र पर जोर देने की आवश्यकता है (see, policy briefs of Accountability Initiative on this)।

इस उद्देश्य के सन्दर्भ में कि 'राज्य एस.एम.सी. के प्रशिक्षण हेतु आवंटन को बढ़ाने का प्रयास करेंगे और सुनिश्चित करेंगे कि स्कूल विकास योजनाओं (एस.डी.पी.) के प्रभावी कार्यान्वयन हेतु स्कूलों को उनके अनुदान समय पर प्राप्त हों। एस.डी.पी.को जिला स्तर पर बजट और योजना प्रक्रिया से जोड़ा जाएगा' (पृ.43)। इसके लिए मूलभूत पुनरीक्षण की आवश्यकता होगी कि एस.एस.ए. के लिए वार्षिक कार्य योजना और बजट (ए.डब्लू.पी.एवं बी.) का अभ्यास कैसे किया जाता है, जो केन्द्रीयकृत मानदण्डों के साथ ऊपर से नीचे के दृष्टिकोण नमूने (टॉप-डाउन टेम्प्लेट) पर संचालित प्रक्रिया है और जो वास्तव में स्थानीय-विशिष्ट नीचे से ऊपर (बॉटम-अप) वाली योजना का अवसर नहीं देते।

12. 'सरकार शिक्षा के क्षेत्र में निवेश को जी.डी.पी. के कम-से-कम 6% तक पहुँचाने के लिए प्राथमिकता के आधार पर कदम उठाएगी' (पृ.55)।

विचार-विमर्श

यह कोठारी आयोग की सिफारिश (1964-66) और सभी राष्ट्रीय नीति प्रावधानों (1968, 1986, 1992) में मान्यता प्राप्त एक दीर्घकालिक आवश्यकता और प्रतिबद्धता रही है। "कम से कम" और "प्राथमिक" जैसे वाक्यांशों का प्रयोग अच्छा है।

यदि रूपरेखा पर इनपुट के इस नोट को टी.आर.एस. सुब्रह्मण्यम समिति की रिपोर्ट के आधार पर मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा तैयार की गई नई शिक्षा राष्ट्रीय नीति के लिए 'इनपुट' के रूप में कार्य करना है, जिसे जल्द ही तैयार किया जाएगा, तो उसमें दिए गए मुख्य प्रस्तावों की समीक्षा करना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा कि समकालीन समय में शिक्षा के प्रमुख सरोकारों जैसे पहुँच, साम्यता, गुणवत्ता, वहन सामर्थ्य और जवाबदेही में वे कैसे योगदान करते हैं।

ध्यान दें

सभी पृष्ठ संख्याएँ Some Inputs for Draft National Education Policy 2016 की हैं, जब तक कि उन्हें अलग से सन्दर्भित न किया गया हो।

References :

1. Dyer, C. 2013. Does mobility have to mean being hard to reach? Mobile pastoralists and education's 'terms of inclusion'. *Compare*, 43(5): 601-621.
2. Garg, N. 2011. *Low Cost Private Education in India: Challenges and Way Forward*. Dissertation, MIT Sloan School of Management.
3. Govinda, R. and M. Bandyopadhyay. 2011. Access to Elementary Education in India: Analytical Overview. In R. Govinda (ed.) *Who Goes to School? Exploring Exclusion in Indian Education*, pp. 1-86. New Delhi: Oxford University Press.
4. Govinda, R., & Josephine, Y. (2004). *Parateachers in India–A Review (Draft)*. New Delhi: NIEPA,
5. Mehendale, A. 2014. The Question of" Quality" in Education: Does the RTE Act Provide an Answer? Special Issue: Right to Education. *Journal of International Cooperation in Education*, 16(2): 87-103.
6. MHRD. 2016. *Some Inputs for Draft National Education Policy 2016*. New Delhi: Government of India. URL: http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/nep/Inputs_Draft_NEP_2016.pdf
7. SSA. 2011. *Sarva Shiksha Abhiyan. Framework For Implementation Based on the Right of Children to Free and Compulsory Education Act, 2009.* Government of India: Ministry of Human Resource and Development.
8. Srivastava, P., C. Noronha, C., and S. Fennell. (2013). *Private sector study: Sarva Shiksha Abhiyan*. Report submitted to DFID (India).

अर्चना मेहेंदले टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई के सेंटर फॉर एजुकेशन इनोवेशन एण्ड एक्शन रिसर्च में प्रोफेसर हैं उनसे archana.mehendale@tiss.edu पर सम्पर्क किया जा सकता है।

राहुल मुखोपाध्याय अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में फैकल्टी के सदस्य हैं। उनकी शोध की रुचियाँ शिक्षा के समाजशास्त्र, शिक्षा नीति तथा संगठनों के समाजशास्त्र के क्षेत्र में हैं। उनसे rahul.mukhopadhyay@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : नलिनी रावल

भारत में विद्यालयी शिक्षा का प्रबन्धन, प्रशासन और अभिशासन : प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति

सुजाता राव



राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) और उसमें किए गए संशोधन (1992) कुछ ऐसी महत्वपूर्ण पहल थीं जिन्होंने राष्ट्र में शिक्षा के विकास के मार्गदर्शन के लिए एक व्यापक ढाँचा तैयार करने का प्रयास किया। ये दस्तावेज मील का पत्थर थे क्योंकि इनमें सभी लोगों के लिए गुणवत्तापूर्ण, न्यायसंगत शिक्षा की आवश्यकता की बात को उजागर किया गया था। इनमें इस बात के व्यापक सुझाव भी दिए गए थे कि शिक्षा के लिए संसाधन कैसे जुटाए जाएँ। ऐसे कौन-से कार्यक्रम लागू किए जाएँ जिनसे शिक्षकों की स्थिति और शिक्षण के पेशे को सुधारने में मदद मिल सके। साथ ही इस अति विशाल सार्वजनिक शिक्षा तंत्र का बेहतर प्रबन्धन और प्रशासन किस तरह से किया जाए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 और 1992 के मूल सिद्धान्त थे कि एक ऐसी विकेन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था महत्वपूर्ण होती है जो समुदाय की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी हो और सार्वजनिक स्कूलों में उपलब्ध कराई जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता के प्रति लोगों के लिए जवाबदेह हो।

शिक्षा पर पिछली राष्ट्रीय नीति के जारी होने के लगभग पच्चीस वर्षों बाद एक नई शिक्षा नीति प्रस्तावित की गई है। इसमें 'प्रबन्धन' और 'अभिशासन' (Governance) की जिस तरह से कल्पना की गई है, उसकी पड़ताल करना उपयोगी होगा। 2016 में प्रस्तावित शिक्षा की इस नीति पर सार्वजनिक विमर्श में दो दस्तावेज उपलब्ध हैं। पहला, नई शिक्षा नीति 2016 के विकास के लिए टी.एस.आर सुब्रमण्यम द्वारा संचालित समिति की रिपोर्ट और दूसरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय की 'सम इनपुट फॉर ड्राफ्ट नेशनल एजुकेशन पॉलिसी,2016' नामक रिपोर्ट। ये दोनों दस्तावेज उस सोच और दृष्टिकोण के बारे में जानकारी देते हैं जिन्होंने देश में शिक्षा के प्रबन्धन, प्रशासन और अभिशासन सम्बन्धी सिफारिशों को आकार दिया है, विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में। नई शिक्षा नीति 2016 के विकास के लिए समिति की रिपोर्ट में जो प्रमुख बिन्दु बताए गए हैं वे इस प्रकार से हैं - देश में शिक्षा तंत्र व्यवस्थित नहीं है और नीति को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाया जाए। शिक्षा तंत्र की विश्वसनीयता बहाल की जाए। यह भी कहा गया कि वर्तमान तंत्र में जो कमियाँ हैं, काफी हद तक उनका कारण सभी स्तरों (विद्यालय की शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक) पर किया जाने वाला राजनीतिक हस्तक्षेप है। रिपोर्ट में कहा गया कि "शिक्षकों के अभिप्रेरण और प्रशिक्षण में काफी फासला है, शिक्षा के क्षेत्र में कार्मिक प्रबन्धन दोयम दर्जे का है, सभी स्तरों पर किए जाने वालों कार्यों के निरीक्षण और पर्यवेक्षण पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, उतना देखने में नहीं आता -संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में प्रबन्धन सम्बन्धित मुद्दों की जो उपेक्षा हुई है उसके चलते आज शिक्षा तंत्र की यह हालत हो गई है।"(पृष्ठ 34)। समिति की रिपोर्ट में, शिक्षा तंत्र में मौजूद विश्वसनीयता की कमी और उसके हितधारकों द्वारा सर्वोत्तम कार्य-सम्पादन की कमी के इन मुद्दों को सम्बोधित करने का प्रयास किया गया जिसके लिए "शिक्षा के क्षेत्र में प्रभावी तंत्र बनाने" (अनुभाग 5.1.6) और "ऐसे निर्वैयक्तिक तरीके स्थापित करने की बात कही गई जिनसे प्रधानाचार्यों तथा शिक्षकों के कार्य (यानी विद्यालय प्रबन्धन) का निरीक्षण सुनिश्चित हो सके।

शिक्षा तंत्र के भीतर राजनीतिक हस्तक्षेप को कम करने और अधिक कार्य क्षमताएँ समाहित करने के लिए समिति ने यह सिफारिश की है कि एक ऐसा प्रबन्धकीय दृष्टिकोण अपनाया जाए जिसमें मजबूत नियंत्रण और पर्यवेक्षी तंत्र के साथ जवाबदेही (विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा में शिक्षकों और प्राचार्यों की जवाबदेही) की गहन भावना भी हो। समिति ने अनुभाग 5.1.17 में यह सिफारिश की है कि "पदानुक्रम में सभी पहलुओं की समीक्षा की जाए ताकि उसमें पारदर्शिता आए, कार्य संचालन के लिए स्पष्ट मानदण्ड हों, एक खुली व्यवस्था स्थापित की जाए, अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए स्वतंत्र बाहरी सत्यापन हो; और इन सारी बातों पर अमल करने के लिए उपयुक्त सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जाए; साथ ही एक प्रभावी गुणवत्तापूर्ण निगरानी तंत्र का निर्माण करना, ब्लॉक/जिला/राज्य स्तर पर विद्यालयों को पदानुक्रमित प्रबन्धन तंत्र पर जोड़ना; नए संस्थानों के अनुमोदन, सम्बन्धन और नियमित मूल्यांकन के लिए पारदर्शी प्रक्रियाओं के साथ, स्पष्ट रूप से स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर, पूर्ण सार्वजनिक प्रकटीकरण के साथ नई पारदर्शी तंत्र की स्थापना करना भी

आवश्यक है और हर कार्य के संचालन में जवाबदेही की भावना होनी चाहिए।

न्यू पब्लिक मैनेजमेंट (Buschor, 1994) के ये तीन स्तम्भ - कार्य संचालन में पारदर्शिता, जवाबदेही और क्षमता - समिति की इस उम्मीद के साथ बँधे हुए हैं कि “क्षेत्र के अभिशासन के हर पहलू में सूचना प्रौद्योगिकी का उचित उपयोग” होना चाहिए। समिति का कहना है कि वह “इस बात से आश्वस्त है कि अगर ऊपर बताई गई बातों के अनुसार कार्य किया जाए तो अभिशासन की गुणवत्ता में तेजी से सुधार होगा जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा की गुणवत्ता भी बढ़ेगी।” (पृष्ठ 42)। समिति को आई.सी.टी. पर बहुत विश्वास है कि इसमें विद्यालय के प्रशासन को असाधारण रूपसे बदलने की क्षमता है। इसलिए अनुभाग 5.2.35 में समिति ने कहा है कि “एक बार यह शुरू हो जाए तो इस तंत्र में इतनी क्षमता है कि यह मौजूदा प्रक्रियाओं को बदल सकती है। हर विद्यार्थी (फिर वह चाहे किसी भी विद्यालय, कॉलेज, विश्वविद्यालय या उच्च शिक्षा संस्थान में क्यों न हो), हर शिक्षक, प्रधानाचार्य या विद्यालय की अपनी एक अनूठी पहचान हो सकती है- अगर विद्यार्थियों की शिक्षा की प्रगति, अधिगम में शिक्षक के योगदान, प्रधानाचार्य के कार्य-सम्पादन और शिक्षा की प्रक्रिया में विद्यालय/संस्था की भूमिका की समयोचित निगरानी की जाए। निगरानी और प्रबन्धन का यह एक ऐसा उपकरण बन सकता है जो एक खुले व पारदर्शी वातावरण में शिक्षा की प्रक्रिया को अभूतपूर्व रूप से उन्नत कर सकता है।”

समिति ने जिस बात पर ध्यान केन्द्रित किया है - यानी शिक्षा तंत्र और विशेष रूप से शिक्षकों की विश्वसनीयता बहाल करने वाली बात- तो उसके बारे में नौकरशाही को मजबूत बनाने के परिचित प्रशासनिक दृष्टिकोण को ही अपनाया गया है, लेकिन उसकी कुछ कमियों को घटाने के लिए सार्वजनिक प्रबन्धन की लफ्फाजी जैसे जवाबदेही, पारदर्शिता और क्षमता का प्रयोग किया गया है। समिति ने शिक्षक भर्ती, चयन, तैनाती और स्थानान्तरण के लिए मानकीकृत तंत्रों; सेवा सम्बन्धी मुद्दों से निपटने के लिए विशेष शैक्षिक अधिकरणों की स्थापना; अनुशासनात्मक शक्तियों से निहित विद्यालय के प्रधानाचार्यों के विशिष्ट संवर्ग के निर्माण; एस.एम.सी.को अतिरिक्त अनुशासनात्मक शक्तियों से निहित करने; शिक्षकों के निगरानी के साथ ही शिक्षक के कार्य-सम्पादन के साथ विद्यार्थियों के परिणामों को एकीकृत करने के लिए आई.सी.टी. का उपयोग करने; लाइसेंस प्रदान करने के लिए शिक्षकों और प्रधानाचार्यों को अनिवार्य प्रशिक्षण देने; और मानकों की स्वीकृत रूपरेखाओं के आधार पर विद्यालय का अनिवार्य मूल्यांकन करने, और उसके लिए शिक्षकों और प्रधानाचार्यों को जवाबदेह बनाए जाने जैसी बातों की सिफारिश की है।

80 और 90 के दशक में कई देशों में इन तरीकों का उपयोग किया गया और असफल सार्वजनिक क्षेत्र की सेवाओं में बाजार-दक्षता के तर्कों को लाने की कोशिश हुई (Aucoin, 1994; Boston, Martin, Pallot, and Walsh 1996)। लेकिन जवाबदेही के इन तरीकों को अपनाने की कोशिश जिन देशों और तंत्रों ने की है, उन्होंने स्वायत्तता और विद्यालय आधारित निर्णय और प्रबन्धन के विचार भी शामिल किए हैं। लेकिन लगता है कि देश में शिक्षा की गुणवत्ता की गिरावट को लेकर समिति के मन में भय है। साथ ही निहित स्वार्थों और लाभ उठाने के लिए शिक्षा के राजनीतिकरण को लेकर निराशा तथा शिक्षकों व प्रधानाचार्यों की योग्यता में विश्वास की कमी जैसी बातों ने समिति को इस बात के लिए मजबूर किया है कि वह शासन को ऐसा तरीका सुझाए जो नियंत्रण आधारित और यांत्रिक हो (Rowan, 1990) जिसमें स्वायत्तता या ‘प्रबन्धन’ की वैकल्पिक अवधारणाओं की बहुत कम गुंजाइश हो।

एक पेशे के रूप में शिक्षण की विश्वसनीयता बहाल करने के बारे में समिति ने संक्षेप में बताया है। लेकिन शिक्षा पर एक विशेष क्षेत्र के रूप में विचार किए बिना प्रबन्धकीय सिद्धान्तों के एकआयामीय अमल की बात करना इस रिपोर्ट की एक बड़ी खामी है। शिक्षण एक जटिल गतिविधि है जिसमें कक्षा में शिक्षकों को ‘कक्षा के दौरान पढ़ाते समय’ ही इस प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं जिनसे विद्यार्थी को अधिगम में मदद मिले। इसके लिए शिक्षकों को इस बात की स्वायत्तता होनी चाहिए कि वे बच्चों की जरूरतों और विद्यालय के विशिष्ट सन्दर्भ के अनुरूप विषय-सामग्री, शिक्षण विधि, मूल्यांकन और शिक्षण प्रक्रिया को तैयार कर सकें। इस तरह के पेशे में ‘नियंत्रण और मूल्यांकन’ जैसी यंत्रवत अनुक्रिया की नहीं बल्कि ऐसे वैकल्पिक तरीकों की आवश्यकता है जो शिक्षक की केन्द्रीयता को स्वीकारे और उन क्रियाविधियों को समर्थन दे जो यह सुनिश्चित करें कि शिक्षक अपनी भूमिका प्रभावी ढंग से निभा सकें। इसके लिए प्रबन्धन के अन्य तरीकों पर ध्यान

देना आवश्यक है - उदाहरण के लिए संघटनात्मक ढाँचे जो नियंत्रण पर नहीं बल्कि प्रतिबद्धता पर आधारित हैं (Rowan, 1990)। समिति ने शिक्षक सहयोग, सहकर्मी और आत्म-मूल्यांकन, सहशासन, शिक्षक अधिगम समुदाय, विकेन्द्रित निर्णय लेने, शिक्षक नेतृत्व या साझा विजन और विद्यालय की संस्कृति के निर्माण जैसे विचारों का कोई उल्लेख नहीं किया है। शिक्षकों की अनुपस्थिति, राजनीतिकरण और शिक्षक पलायनवृत्ति को कम करने की कोशिशों में समिति ने विद्यालय प्रबन्धन के अधिक व्यवहार्य और लोकतांत्रिक रूपों को नजरअन्दाज कर दिया है। उसके बदले विद्यालयी शिक्षा और विद्यार्थी अधिगम के परिणामों में सुधार लाने के लिए नौकरशाही में एक मजबूत पर्यवेक्षी तंत्र के साथ आई.सी.टी. सक्षम निगरानी पद्धति खोजी है। इसके परिणामस्वरूप जो स्थिति सामने आती है उसे "नियंत्रित विनियंत्रण" की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें शिक्षकों और प्रधानाध्यापकों को विद्यालय में अधिगम के परिणामों में सुधार करने के लिए पर्याप्त स्वायत्तता तो नहीं दी जाती पर जवाबदेह ठहराया जाता है।

वैसे तो समिति की रिपोर्ट पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि इसमें प्रबन्धन सम्बन्धी जो सिफारिशें की गई हैं वे अत्यधिक पर्यवेक्षी और नियंत्रण आधारित हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि समिति उस भ्रष्टाचार और राजनीतिक हस्तक्षेप को अच्छी तरह से पहचानती है जिसे तंत्र के सभी स्तरों पर देखा जा सकता है और समिति इसे जितना हो सके उतना कम करना चाहती है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय की प्रारूप रिपोर्ट में इस भय या समिति के निष्कर्षों का कोई जिक्र नहीं है - दरअसल यह रिपोर्ट समिति की रिपोर्ट का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं करती। ड्राफ्ट रिपोर्ट इस बात को दोहराती है कि विद्यालयी शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की आवश्यकता है। रिपोर्ट के अनुसार सरकारी तंत्र में स्कूल की 'कथित' विफलता में योगदान करने वाले कारक इस प्रकार से हैं - ऐसे विद्यालयों की एक बड़े अनुपात में मौजूदगी जो विद्यालयों के लिए निर्धारित मानदण्डों और मानकों के अनुरूप नहीं हैं; विद्यार्थी और शिक्षक अनुपस्थिति; शिक्षकों के अभिप्रेरण और प्रशिक्षण में गम्भीर फासलों के परिणामस्वरूप शिक्षक की गुणवत्ता और कार्य-सम्पादन में कमी आना; शिक्षा के क्षेत्र में सूचना और संचार प्रौद्योगिकी का उपयोग करने में धीमी प्रगति; दोयम कार्मिक प्रबन्धन, कार्य-सम्पादन की निगरानी और पर्यवेक्षण पर अपर्याप्त ध्यान आदि" (पृष्ठ 8)। नीति का प्रारूप प्रशासनिक प्रक्रियाओं में आई.सी.टी. के उपयोग के माध्यम से इनका समाधान करना चाहता है। वह शिक्षकों व प्रधानाचार्यों के लिए अनिवार्य प्रशिक्षण की आवश्यकता को दोहराते हुए एक बार फिर वही बात कहता है कि "अनुपस्थित शिक्षकों और प्रधानाचार्यों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के लिए एस.एम.सी. को सशक्त बनाना चाहिए।" इसके अलावा विद्यालय के प्रशिक्षित प्रधानाचार्यों के एक समर्पित संवर्ग (कैडर) वाले सुझाव को भी प्रारूप समिति स्वीकार करती है (हालाँकि य़ह अस्पष्ट है कि ऐसे प्रशिक्षण की प्रकृति कैसी होगी)।

तंत्र में विश्वास की जो कमी है, उस मौलिक मुद्दे को नीति प्रारूप सम्बोधित नहीं करता (जिसे समिति की रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से पहचाना गया था)। शिक्षा तंत्र जिस संस्थागत वैधता की कमी की समस्या का सामना कर रहा है, यह प्रारूप उसे अनदेखा करता है और शिक्षा से मिली उन सीखों को सम्मिलित नहीं करता या उन पर विचार नहीं करता जो इस बात का स्पष्ट निर्देश देते हैं कि विद्यालय व्यवस्था में बदलाव और शैक्षिक सुधार वास्तव में कैसे होते हैं। शिक्षा तंत्र में शिक्षक की मौलिक नैतिक भूमिका, पहचान और स्वायत्तता को सम्बोधित नहीं किया गया है। शिक्षक प्रशिक्षण की बात की गई है लेकिन इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि एक पेशे के रूप में शिक्षण सम्बन्धी और एक जटिल क्षेत्र में शिक्षकों की पेशेवर के रूप में कार्य करने सम्बन्धी धारणा क्या है। प्रारूप रिपोर्ट की सिफारिशें यह संकेतित करती हैं कि शिक्षक प्रबन्धन के मुद्दे को सतही तौर पर लिया गया है बजाय इसके कि शिक्षक पेशेवर विकास को एक प्रमुख मुद्दा माना जाए। शिक्षक शिक्षा, दक्षता और विद्यालय प्रशासन को सुदृढ़ बनाना जरूरी है। दुनिया भर से मिलने वाले साक्ष्य यह सुझाव देते हैं कि ऐसा तभी हो सकता है जब विद्यालय सन्दर्भ के अनुरूप और बच्चों के लिए सार्थक निर्णय लेने में सक्षम हों। साथ ही शिक्षकों को यह महसूस हो कि सभी बच्चों के अधिगम को सुनिश्चित करने के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयासों को समर्थन मिल रहा है। इसके लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे हैं - शिक्षक और विद्यालय की स्वायत्तता, विद्यालय के हितधारकों के बीच एक साझा विजन का विकास, विद्यालय की एक ऐसी मजबूत संस्कृति का विकास जो अधिगम और सहयोगी कार्य पद्धतियों को प्रोत्साहित करे और जिसमें विद्यालय के बारे में

निर्णय लेते समय सभी हितधारकों को शामिल किया जाता हो। प्रारूप रिपोर्ट में शिक्षक स्वायत्तता और शिक्षकों के कार्य सम्पादन व विद्यार्थी अधिगम के बीच के उन सम्बन्धों का कोई उल्लेख नहीं है जिन्हें विकसित करने का प्रयास समिति कर रही थी; यह बात जटिल तो थी लेकिन प्रारूप रिपोर्ट में इसे पूरी तरह से अनदेखा कर दिया गया है। इसे देखकर लगता है कि मंत्रालय खुद इस बात को स्वीकार करता है कि शिक्षक प्रबन्धन प्रक्रियाएँ मजबूत करने के बारे में रिपोर्ट में जो सिफारिशें की गई हैं, जरूरी नहीं कि उनसे बच्चों के अधिगम स्तर में विद्यालयों की गुणवत्ता में सुधार होगा।

प्रबन्धन और अभिशासन सम्बन्धी अपनी विशिष्ट सिफारिशों में यह रिपोर्ट शैक्षिक लक्ष्यों व उद्देश्यों, शिक्षण की जटिलता और शिक्षकों के कार्य सम्पादन के लिए आवश्यक समर्थन की मूलभूत समझ से विचलित हो गई है। यह राजनीतिक शक्ति और हस्तक्षेप जैसे उन मुद्दों की उपेक्षा करती है जिनसे शिक्षा तंत्र त्रस्त है, साथ ही इन मूलभूत मुद्दों को हल करने का कोई प्रयास भी नहीं किया गया है जिनके चलते सुधार के लिए की गई कोई भी पहल सफल नहीं हो पाएगी। इन बड़े फासलों के कारण यह देख पाना मुश्किल है कि पदानुक्रम के भीतर अतिरिक्त पर्यवेक्षी और नियामक शक्तियाँ या पारदर्शी निर्णय लेने के लिए आई.सी.टी. में विश्वास करने से विद्यार्थी अधिगम या देश के विद्यालयों में शिक्षा की गुणवत्ता में कोई भी सुधार हो पाएगा।

References :

1. Aucoin, P. (1995). The New Public Management: Canada in comparative perspective. Montreal: Institute for Research and Public Policy.
2. Boston, J., Martin, J., Pallot, J., & Walsh, P. (1996). Public management: the New Zealand model. Auckland: Oxford University Press
3. Buschor, E. (1994). Introduction: from advanced public accounting via performance measurement to New Public Management. In: E. Buschor, & K. Schedler, Perspectives on performance measurement and public sector accounting (pp. vii–xviii). Bern: Haupt
4. Rowen (1990) Commitment and Control: Alternative Strategies for the Organizational Design of Schools, Review of Research in Education, Vol. 16 (1990), pp. 353-389.
4. Some inputs for Draft National Education Policy 2016, Ministry of Human Resource Development, Government of India.
5. Subramanian, T. R Committee (2016) Report of the Committee for Evolution of the New Education Policy, Ministry of Human Resource Development, National Policy of Education 2016, April.

सुजाता राव विद्यालय नेतृत्व, विद्यालय सुधार और शैक्षिक परिवर्तन के क्षेत्र में कार्यरत हैं। वे विद्यालयों एवं गैर सरकारी संगठनों के साथ इसी क्षेत्र में कार्य करती हैं। सुजाता अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय और इण्डियन स्कूल ऑफ मैनेजमेंट में पढ़ाती हैं। उनसे sujatha.rao@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद : नलिनी रावल**



चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों में शैक्षिक नीतियाँ

सास्वती पाइक

भारत में शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) अधिनियम 2009 के अनुसार हर भारतीय बच्चा 6 से 14 साल की उम्र तक 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा' का पात्र है। अगर यह मान लिया जाए कि कोई बच्चा 6 वर्ष की आयु में पहली कक्षा में है और 14 वर्ष की आयु में नवीं कक्षा में पहुँचता है तो 8 वर्षों की इस 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा' वाली अवधि में उसे सरकार से विद्यालय के कार्य दिवसों के दौरान मुफ्त किताबें, वर्दी और मध्याह्न भोजन मिलता है। उसे विद्यालय में पढ़ने के लिए कोई ट्यूशन फीस नहीं देनी पड़ती। विभिन्न राज्यों में इस नीति के विविध रूप हैं, लेकिन सामान्य तौर पर ये सारे लाभ सरकार से अपेक्षित हैं। लेकिन जब बच्चा माध्यमिक स्तर पर पहुँचता है तो लागत/फीस बढ़ जाती है और तब यह खर्चा माता-पिता पर आन पड़ता है। ऐसे में मुमकिन है कि बच्चा पढ़ाई छोड़ दे, विशेष रूप से अगर गरीबी और संसाधन की उपलब्धता सम्बन्धी मुद्दे, विद्यालय तक पहुँच, वहाँ पर शिक्षकों का व्यवहार, समाज के भीतर मौजूद पारम्परिक प्रथाएँ आदि अतिरिक्त बाधाएँ बन जाएँ तो स्थिति काफी गम्भीर हो जाती है।

जटिलताओं से भरी चुनौतियाँ

जिन क्षेत्रों में प्राकृतिक आपदाओं की सम्भावना अधिक होती है या जो क्षेत्र सशस्त्र संघर्ष वाले क्षेत्र होते हैं तो वहाँ ऐसी भौगोलिक और भू-राजनीतिक चुनौतियों वाली स्थितियों में जो चुनौतियाँ सामने आती हैं वे काफी जटिल होती हैं। इसके अलावा ऐसे स्थान भी हैं जहाँ तक पहुँच पाना ही एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस प्रकार की चुनौतियों पर नीति निर्माताओं और कार्यान्वयनकर्ताओं का ध्यान कम ही जाता है, वैसे कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ इन बातों का ध्यान अच्छी तरह से रखा गया है। इन क्षेत्रों में विद्यार्थियों के विद्यालय छोड़ने (Dropout) के कारण काफी जटिल हैं और जरूरी नहीं कि इसकी वजह गरीबी ही हो। मैं यहाँ पर कुछ ऐसे क्षेत्रों की चर्चा करूँगी जिनका दौरा करने से मुझे विद्यालय सम्बन्धी चुनौतियों और नीतियों के बारे में व्यापक जानकारी मिल पाई है और उनके बारे में मेरी समझ भी विकसित हुई है। ये क्षेत्र इस प्रकार हैं : (1) उत्तराखण्ड में उत्तरकाशी, (2) राजस्थान में बाड़मेर और (3) छत्तीसगढ़ में दन्तेवाड़ा।

प्राकृतिक आपदाओं के प्रत्यक्ष प्रभाव इस प्रकार से हैं (i) विद्यालय भवन का नष्ट होना, (ii) विद्यालय तक जाने वाली सड़क का क्षतिग्रस्त होना। इनके कारण विद्यालय के पुनः खुलने की अनिश्चितता और अनियमित उपस्थिति जैसे मुद्दे सामने आते हैं और इन बातों का प्रभाव बच्चों के अधिगम पर पड़ता है। अप्रत्यक्ष प्रभावों के अन्तर्गत जो बातें आती हैं वे इस प्रकार हैं : विद्यालय भवन को अस्थायी रूप से पुनर्वास केन्द्र बना देने के कारण विद्यालय का एक लम्बी अवधि के लिए बन्द हो जाना। विस्थापन या प्रवास के कारण संकटग्रस्त परिवारों के बच्चों का विद्यालय छोड़ना। और इसका परिणाम होता है बाल मजदूरी, बाल विवाह और बाल अवैध व्यापार। स्वाभाविक है इस प्रकार प्रभावित बच्चे अपेक्षित अधिगम परिणामों से कई साल पीछे छूट जाते हैं। उनके विद्यालय छोड़ देने का कारण केवल गरीबी या माता-पिता में जागरूकता की कमी नहीं होती। इसकी जड़ें तो बहुत गहरी जमी होती हैं।

प्रतिकूल प्राकृतिक स्थान में शिक्षा

भारतीय उपमहाद्वीप के करीब 85 प्रतिशत भागों में एकाधिक प्राकृतिक आपदाओं के घटने की सम्भावना रहती है और 22 राज्य बहु-जोखिम वाले क्षेत्र हैं। निम्नलिखित सारणी से एक संक्षिप्त विवरण मिल सकेगा :

क्षेत्र और आपदा का प्रकार	**आपदा प्रबन्धन पर राष्ट्रीय नीति 2009 के अनुसार अनुमानित प्रभावित क्षेत्र**
सम्भावित भूकम्प क्षेत्र	भू-खण्ड का 58.6 प्रतिशत
सम्भावित बाढ़ और नदी-किनारे की क्षरण भूमि	भूमि का 12 प्रतिशत
सम्भावित सूखा	खेती योग्य भूमि का 68 प्रतिशत
सम्भावित चक्रवात और सुनामी तट	कुल 7516 किलोमीटर में से 5700 किलोमीटर

स्रोत : आपदा प्रबन्धन पर राष्ट्रीय नीति 2009

उत्तरकाशी (उत्तराखण्ड) की वास्तविकता

उत्तराखण्ड राज्य के कुल क्षेत्रफल का लगभग 86% हिस्सा भूकम्पीय सक्रिय पहाड़ी क्षेत्र में स्थित है और यहाँ बाढ़, आकस्मिक बाढ़, भूस्खलन और वृष्टि स्फोट की सम्भावना बनी रहती है (उत्तराखण्ड सरकार 2015, और दास 2013)। उत्तरकाशी जिला उत्तराखण्ड के उत्तरी भाग में स्थित है। उत्तर में हिमाचल प्रदेश और उत्तर-पूर्व में चीन की सीमाएँ हैं। 2013 में रुद्र प्रयाग की आकस्मिक बाढ़ के दौरान यह जिला सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ था। छह प्रशासनिक ब्लॉकों में से सबसे ज्यादा प्रभावित क्षेत्र भटवारी का था। उत्तराखण्ड सरकार के अनुरोध पर भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण (जीएसआई) के भूवैज्ञानिकों के एक समूह द्वारा भटवारी, डूंडा और बारकोट तहसील के बीस गाँवों का भू-तकनीकी मूल्यांकन किया गया था, जिसमें इस बात का आकलन करने की कोशिश की गई कि कितनी क्षति हुई, इसके कारण क्या थे और लघु व दीर्घकालिक उपचारात्मक उपाय क्या हों।

इस सर्वेक्षण में सोलह गाँवों को बुरी तरह क्षतिग्रस्त पाया गया और यह सुझाव दिया गया कि इनमें से ग्यारह को आंशिक रूप से पुनर्स्थापित किया जाए।

2015 के नवम्बर-दिसम्बर माह में भटवारी ब्लॉक के कुछ विद्यालयों के अध्ययन से निम्नलिखित बातों का पता चला :

i. विद्यालयों को A से F में वर्गीकृत किया गया है और यह वर्गीकरण मुख्य सड़क से विद्यालयों तक की पहुँच, परिवहन सुविधाओं की उपलब्धता, स्वास्थ्य सुविधाओं, डाकघर, शैक्षिक सुविधाओं, व्यापारिक केन्द्रों, दूरसंचार, सामान्य सार्वजनिक सुविधाओं और समुद्र तल से ऊपर ऊँचाई जैसी बातों के आधार पर किया गया है। उत्तरकाशी में कई विद्यालय मुख्य सड़क से दूर स्थित हैं, इलाका दुष्कर है और वहाँ तक पहुँच पाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। यहाँ कई एकल शिक्षक विद्यालय हैं जिसके मुख्य कारणों में से एक यह है कि शिक्षक ऐसे विद्यालयों में कार्य करना नहीं चाहते जहाँ पहुँच पाना मुश्किल हो। शिक्षा विभाग के एक अनुमान के अनुसार 2013 में बाढ़ से 29 विद्यालय प्रभावित हुए, जिनमें से तीन पूरी तरह से क्षतिग्रस्त हुए, 26 विद्यालयों में आंशिक नुकसान हुआ जैसे दीवारों, छतों और फाटकों का ढहना और पेयजल, शौचालयों तथा कक्षाओं को नुकसान पहुँचना आदि। लगातार आपदाओं के बावजूद विद्यालयों में आपदा के निवारण के लिए संरचित योजना नहीं है।

ii. कई स्थानों में, भागीरथी नदी में तलछट की वृद्धि, अनियोजित निर्माण और अपर्याप्त सुरक्षा उपायों के कारण स्थिति और बदतर हो गई है जैसा कि जीएसआई की रिपोर्ट में बताया गया और सर्वेक्षण के दौरान भी यह बात सामने आई।

नीतिगत पहल और उत्तराखण्ड में किए गए अच्छे कार्य

यहाँ सन्दर्भ विशिष्ट नीतिगत पहलें और अच्छे कार्य भी देखने में आए जिनकी सराहना करना आवश्यक है :

1. इस राज्य में बच्चों की शिक्षा की निरन्तरता सुनिश्चित करने के लिए कुछ विशेष उपाय किए गए हैं। जहाँ साल भर में दो से तीन महीनों तक हिमपात होता है वहाँ के लोग पहाड़ों से उतरकर नीचे आ जाते है। उनके बच्चों के लिए स्थानीय विद्यालयों में शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। जो विद्यालय बहुत ऊँचाई वाली जगहों में हैं, वहाँ पर मौसम के हिसाब से एक अलग शैक्षिक कैलेंडर का पालन किया जाता है यानी सर्दियों मे अधिक छुट्टियाँ दी जाती हैं और गर्मियों में कम।

2. उत्तरकाशी में जिला आपदा प्रबन्धन कार्यालय (DDMO) एक सलाहकार के रूप में कई विभागों को तकनीकी सहायता देने का कार्य करता है। 2013 की बाढ़ के दौरान प्रभावित घरों का पुनर्निर्माण पूरा होने के बाद, डीडीएमओ ने सार्वजनिक इमारतों का आकलन शुरू कर दिया है जिनमें विद्यालय भी शामिल हैं।

3. सड़कों के समतलन और मरम्मत के लिए इस्तेमाल किए गए बुलडोजरों को सामान्यतया मुख्य सड़क पर नियमित दूरी पर रखा जाता है ताकि तुरन्त मरम्मत और नियमित रखरखाव सुनिश्चित हो सके।

4. उत्तरकाशी में एक अनूठी बात यह है कि यहाँ गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) का एक सक्रिय नेटवर्क है जिसकी वजह से कार्यों का दोहराव कम हो गया है और वे निश्चित तौर पर समुदाय तक अपनी सहायता पहुँचाते हैं। ये एनजीओ कई क्षेत्रों में कार्य करते हैं जैसे गाँवों और

विद्यालयों में आपदा प्रबन्धन के बारे में जन जागरूकता पैदा करना, खेती और आजीविका सम्बन्धी बातों पर विशेष परामर्श देना, कच्चे माल और उत्पादन की सहकारी खरीद और बिक्री आदि।

5. नेहरू इंस्टीट्यूट ऑफ माउंटेनियरिंग (NIM) के द्वारा नई सड़कों की योजना बनाई जाती है और गाँवों के युवा स्वयंसेवकों को प्रशिक्षित किया जाता है ताकि वे आपातकाल में सबसे पहले जाकर सहायता कर सकें।





राजस्थान के बाड़मेर में सार्वजनिक विद्यालय

चीन की सीमा से जुड़े राज्य से हम पाकिस्तान के सीमावर्ती राज्य में अर्थात राजस्थान में आते हैं जहाँ बाड़मेर जिला स्थित है। इसके अन्तर्गत आठ ब्लॉक, दो नगर पालिकाएँ, 380 ग्राम पंचायत और 1933 आवासित गाँव आते हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार बाड़मेर में साक्षरता दर 56.5 प्रतिशत है जबकि राज्य औसत 66.1 प्रतिशत है। पुरुष और महिला साक्षरता दर (क्रमशः 70.09 और 40.6 प्रतिशत) दोनों ही राज्य औसत (क्रमशः 79.2 और 52.1) से कम है। इस जिले के अन्तर्गत आने वाले शेओ ब्लॉक में महिला साक्षरता दर जिले के औसत (38.12 प्रतिशत) से कम है और लिंग अनुपात भी बहुत कम है (863 जबकि जिला औसत 902 है), दोनों ही बातें चिन्ताजनक हैं।

बाड़मेर के विद्यालय जिन चुनौतियों का सामना कर रहे हैं वे उसके भू-भौतिक स्थान, आजीविका और शैक्षिक नीति से सम्बन्धित हैं :

1. यहाँ उत्पादक भूमि और आजीविका के अवसर दोनों ही बहुत सीमित हैं। शेओ में कुल क्षेत्रफल का 49.11 प्रतिशत खेती के योग्य है, जिसमें से केवल 0.62 प्रतिशत सिंचित है (भारत सरकार, 2014)। गाँवों को नियोजित इन्दिरा गांधी नहर से बड़ी मुश्किल से पानी मिल पाता है। कुछ विद्यालयों ने वर्षा जल संचयन शुरू किया है, लेकिन बारिश भी बहुत कम होती है इसलिए पेयजल का संकट हमेशा ही बना रहता है।

2. विद्यालय अलग या एकाकी जगहों पर स्थित हैं और दुकानें दुर्लभ हैं। विभाग द्वारा तय किए गए मध्याह्न भोजन (एमडीएम) की भोजन सूची के बावजूद विद्यालय के बच्चों को अधिकतर दलिया या खिचड़ी ही मिलती है इसलिए पोषण का ध्यान रख पाना कठिन हो जाता है। फिर भी बच्चों को यह भोजन आकर्षित करता है क्योंकि कभी-कभी उन्हें पूरे दिन में, एक वक्त का, केवल यही भोजन मिलता है।

3. आबादी इतनी कम है प्रत्येक किलोमीटर पर (आर.टी.आई. के मानक अनुसार) विद्यालय स्थापित करने का कोई मतलब नहीं है, इसलिए एक सार्वजनिक विद्यालय कई छोटी बस्तियों (ढाणियों) के बच्चों की शिक्षा का ध्यान रखता है। कई विद्यालय ऐसे भी हैं जो पक्की सड़कों या सार्वजनिक परिवहन से जुड़े हुए नहीं होते, इसलिए दूर-दराज के गाँव के विद्यार्थियों को रेत पर नंगे पाँव चलकर आना पड़ता है। गर्मी के दिनों में जब तापमान 50 डिग्री

सेल्सियस से ऊपर चला जाता है तो जो हालत होगी, उसकी तो कल्पना ही की जा सकती है!

4. यहाँ पर जाति सम्बन्धी अनुक्रम और जाति पर आधारित भेदभाव इतने मजबूत हैं कि विद्यालय के बच्चे अपनी जाति से सम्बन्धित थालियों में ही भोजन करते हैं और इसमें कभी कोई गड़बड़ी नहीं होती। यहाँ तक कि रसोइए को भी उसी जाति से चुना जाता है जिस जाति का उस क्षेत्र के समुदाय में बोलबाला हो।

5. उच्च जाति के परिवारों की महिलाओं को घर से बाहर कार्य करने की अनुमति नहीं मिलती, इसलिए खाना बनाने का कार्य अकसर पुरुष ही करते हैं और उनका वेतन भी बहुत कम होता है (आमतौर पर हफ्ते के छह दिन 100-120 बच्चों का खाना बनाने के लिए 1000 रुपए)। नतीजतन रसोइए अकसर अनुपस्थित रहते हैं और शिक्षकों को खाना बनाना पड़ता है।

6. ग्रामीण विद्यालयों में महिला शिक्षिकाएँ नहीं मिलतीं। इसके मुख्य कारण हैं (i) महिलाओं में शिक्षा की कमी, (ii) विद्यालयों का दूरस्थ स्थानों में होना और (iii) उनका मुख्य सड़क से बहुत दूर होना और वहाँ तक पहुँचना बेहद कठिन होना। इसलिए प्राथमिक शिक्षा के बाद, या कभी-कभी उसके पहले भी, लड़कियाँ विद्यालय में पढ़ना छोड़ देती हैं।

7. कुछ विद्यालयों में पुरुष शिक्षकों को भी विद्यालय परिसर में ही रहना पड़ता है क्योंकि वे रेतीले इलाके में बाइक नहीं चला पाते और यहाँ पर किराए के अच्छे मकान नहीं मिलते।

बाड़मेर में नीतिगत पहल

बाड़मेर की कुछ नीतिगत पहलों का उल्लेख नीचे किया गया है :

1. बाड़मेर (डार्क जोन) के विद्यालयों में नियुक्त शिक्षकों को वहीं बनाए रखने के लिए सरकार ने स्थानान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

2. विद्यालय के प्रधानाध्यापक को आमतौर पर नोडल अधिकारी का पद दिया जाता है जिसका कार्य होता है स्थानीय समुदाय से जनसांख्यिकीय आँकड़े इकट्ठा करना और स्थानीय प्रशासन को अद्यतन जानकारी देना। इस प्रक्रिया को अंजाम देने में शिक्षक का बहुत समय चला जाता है। नीति के अनुसार शैक्षिक कार्यकर्ताओं की संख्या बहुत कम है और पूरे शेओ ब्लॉक में केवल एक बीईओ और एक संसाधक है जबकि इस ब्लॉक में 300 से अधिक विद्यालय हैं।

3. सार्वजनिक विद्यालयों में राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा केवल पुस्तकें ही दी जाती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जिन गाँवों में दुकानें दुर्लभ हैं, परिवहन की व्यवस्था इतनी खराब है; वहाँ पर विद्यालय की वर्दी मुहैया कराने को प्राथमिकता नहीं दी गई है।

4. शैक्षिक अभिशासन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में परिचालन के जिन पहलुओं की अपेक्षा की जाती है, वे यहाँ हैं ही नहीं। अधिकतर विद्यालयों में विद्यालय प्रबन्धन समिति (एस.एम.सी.) नहीं है।

5. गर्मी के मौसम में इस क्षेत्र के खाद्य संकट को ध्यान में रखते हुए यहाँ के विद्यालयों में, सरकारी नीति के अनुसार, गर्मी की छुट्टियों में मध्याह्न भोजन की व्यवस्था की गई है। लेकिन इस बात की कल्पना कर पाना मुश्किल है कि बच्चे गर्मी के मौसम में, जब तापमान डिग्री 40-50 सेल्सियस होता है, केवल भोजन करने गर्म रेत पर नंगे पाँव चलकर विद्यालय आएँगे!!

सशस्त्र संघर्ष वाले क्षेत्रों में स्कूलिंग

सशस्त्र संघर्ष वाले अधिकांश क्षेत्रों में 'गरीबी और संघर्ष का मेल सर्वाधिक प्रबल प्रतीत होता है जहाँ विद्यालय न जाने वाले बच्चों की संख्या बहुत अधिक होती है' (स्मिथ, 2010)। यद्यपि शिक्षा को आमतौर पर 'अच्छाई के लिए एक बल' माना जाता है, पर शोध अध्ययन बताते हैं कि 'संघर्ष उसके लाभों को विकृत कर सकता है और अतिरिक्त जोखिम ला सकता है' (निकोलई, 2003)। संघर्ष वाले क्षेत्र में विद्यालय असुरक्षित हो सकते हैं क्योंकि विद्यालय की इमारतों का प्रयोग सेना या सैन्य आश्रयों के रूप में किया जा सकता है, जिन पर संघर्ष के दौरान आक्रमण हो सकता है और इस तरह से बच्चे और शिक्षक दोनों जोखिम में पड़ सकते हैं। भारत के कुछ राज्यों जैसे जम्मू और काश्मीर, आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, असम, मणिपुर और त्रिपुरा के कुछ हिस्सों के बारे में यह बात सच है।

दन्तेवाड़ा, छत्तीसगढ़ में विद्यालय और नीतिगत पहल

छत्तीसगढ़ में दन्तेवाड़ा जिला अपने सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों के कारण सुपरिचित है। 2011 की जनगणना के अनुसार, इस जिले के ग्रामीण इलाकों में अनुसूचित जनजाति की साक्षरता दर 29.33 प्रतिशत है। गाँव ऐसे हैं जहाँ साक्षरता सीमा 11 - 20 प्रतिशत है। ये गाँव कुल गाँवों का 23.39 प्रतिशत और इस जिले में अनुसूचित जनजाति की कुल आबादी का 23.91 प्रतिशत हैं। ग्यारह गाँव ऐसे हैं जहाँ अनुसूचित जनजाति की साक्षरता दर शून्य प्रतिशत है (जनगणना कार्य निदेशालय, 2014)।

इस जिले के कई गाँवों को सशस्त्र संघर्ष सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिसके कारण शैक्षिक वर्ष के दौरान ज्यादातर समय विद्यालय बन्द रहता है। ऐसे में बच्चों की शिक्षा की क्या हालत होती होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। इन संघर्षों के कारण कई बच्चे अनाथ हो जाते हैं और कई बच्चों को विद्यालय छोड़ना पड़ता है। जिस उम्र में बच्चों को विद्यालय में पढ़ाई करनी चाहिए उस उम्र में उन्हें इस तरह से विद्यालय छोड़ना पड़ता है और उनकी सुरक्षा भी दाँव पर लग जाती है। इन सब बातों को समझकर छत्तीसगढ़ सरकार ने कुछ अनूठी नीतिगत पहल की हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. राज्य सरकार ने लड़कों और लड़कियों के आवासीय विद्यालयों के लिए अलग भवन बनाए हैं जिन्हें पोटा केबिन विद्यालय कहा जाता है, ये पोर्टेबल हैं यानी इन्हें आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। सरकार बच्चों के सारे खर्चे उठाती है और आठवीं कक्षा के बाद उन्हें माध्यमिक शिक्षा के लिए पास के सार्वजनिक विद्यालयों में ले जाती है।
2. गीदम तहसील में एक शिक्षा नगर (राष्ट्रीय राजमार्ग 16 पर) है जो यहाँ की एक और अनोखी पहल है। सरकार की शैक्षिक पहल का यह विशाल क्षेत्र निश्चित रूप से हर आगन्तुक का ध्यान आकर्षित करता है।
3. शिक्षा नगर के भीतर आस्था नामक विद्यालय में शिक्षा सम्बन्धी एकदम विभिन्न दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। यहाँ पर वर्तमान में लगभग 800 ऐसे बच्चों को सह-शिक्षा प्रदान की जा रही है जो मुख्य रूप से छत्तीसगढ़ में सशस्त्र संघर्षों से प्रभावित परिवारों के हैं। यह विद्यालय बच्चों को सभी प्रावधान देता है, लेकिन उनकी मूलभूत सुविधाएँ और विद्यालयी तौर-तरीके पोटा केबिन विद्यालयों से काफी अलग हैं। शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी है और वर्दी आंशिक रूप से पश्चिमी शैली की है तथा कक्षाएँ तकनीकी साधनों से लैस हैं।
4. आस्था से कुछ मीटर दूर सक्षम नामक एक आवासीय विद्यालय है जो विशेष योग्यता वाले बच्चों के लिए है और जिसमें 170 बच्चे नामांकित हैं। यह विद्यालय दृष्टि बाधित और सुनने, बोलने व मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्या वाले बच्चों के लिए बुनियादी सुविधाओं से लैस है। ये बच्चे सप्ताह में तीन दिन औपचारिक विद्यालय जाते हैं और बाकी के तीन दिन अपने स्वयं के परिसर में विशेष सुविधा वाली कक्षाओं का उपयोग करते हैं। इस विद्यालय का उद्देश्य यह है कि विशेष आवश्यकता वाले बच्चों को इस तरह से तैयार किया जाए कि वे औपचारिक विद्यालय के वातावरण के साथ तालमेल बिठा सकें। विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के लिए जिन बुनियादी सुविधाओं की जरूरत होती है, वे सब यहाँ पर उपलब्ध हैं।

प्रश्नों के साथ समापन

1. जो स्थान प्राकृतिक आपदाओं या सशस्त्र संघर्षों से पीड़ित होते हैं वहाँ विद्यालयी शिक्षा में बाधा पड़ना एक सामान्य बात है, लेकिन अगर ऐसी घटनाएँ बार-बार होती रहें तो कुछ हद तक इन बाधाओं की ओर ध्यान नहीं जाता। परिणाम यह होता है कि बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य और अधिगम प्रक्रिया पर होने प्रभाव का समाधान एक लम्बे समय तक नहीं हो पाता। जिन बच्चों की विद्यालयी शिक्षा में नियमित रूप से बाधा पड़ती रहती है, क्या वे कभी शिक्षा में 'समता' का अनुभव कर पाते हैं? क्या उनके लिए शिक्षा का अधिकार बस आठवीं कक्षा तक ही सीमित है?
2. हमारे पास विद्यालय के ऐसे मानचित्रों का अभाव है जिनमें उनके भौगोलिक स्थानों, वहाँ तक पहुँचने के रास्तों, समुदाय का परिवेश और क्षेत्र से जुड़े भू-भौतिक वातावरण दर्शाया गया हो। अतः विद्यालयों के जोखिम

और अरक्षितता को समझना और उपयुक्त नीतिगत हस्तक्षेप की आवश्यकता को समझना एक बहुत बड़ी चुनौती है। अगर विभिन्न राज्यों में इसी तरह के अन्य विद्यालयों के बारे में गहराई से समझने की चेष्टा की जाए तो ऐसे चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों में सन्दर्भ विशिष्ट मुद्दों का समाधान करने के लिए एक शैक्षिक नीति की रूपरेखा तैयार करने में मदद मिल सकती है। जीपीएस का प्रयोग करके कुछ क्षेत्रों में ऐसा करना सम्भव हो सकता है, पर दूसरे स्थानों में तो यह कार्य हाथों से ही करना होगा। ऐसे विद्यालयों को मानचित्रित करने की पहल कौन करेगा और कब?

3. शोधकर्ता और नागरिक समाज संगठन इस तरह के चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों के विद्यालयों की समस्याओं को समझने के लिए शायद ही वहाँ जाते हैं और प्राकृतिक व मानवकृत आपदाओं से जो मुश्किलें पैदा होती हैं, उन पर ध्यान देने के लिए आमतौर पर राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी होती है। ऐसे में बच्चों के दीर्घकालिक लाभों के लिए एक सार्थक नीति का हस्तक्षेप सुनिश्चित करने के लिए हम शोधकर्ताओं और नागरिक समाज संगठनों का ध्यान ऐसे इलाकों की ओर कैसे आकर्षित करें?

’उत्तरकाशी और बाड़मेर में आँकड़े इकट्ठा करने में एम.ए. (शिक्षा) (2014-16 और 2015-17 के बैच) के छात्र/छात्राओं सूर्या, विशाला, अकीब, स्वप्निल, योगेन्द्र, मोहसिन, शालिनी, एकता और पंकज की सहायता के लिए आभार।

References :

1. Boyden, J., Jo de Berry, Thomas Feeny and Jason Hart (2002). Children Affected by Armed Conflict in South Asia. UNICEF.
2. Dangwal, D. P., Neetu Chauhan, Mayukhee Ghosh and Tamoghno Ghosh (2014). Preliminary Slope Stability Assessment of the Recent Disaster Affected Areas of Uttarkashi District, Uttarakhand. Kolkata: Geological Survey of India.
3. Das, P. K. (2013). ‘The Himalayan Tsunami’- Cloudburst, Flash Flood & Death Toll: A Geographical Postmortem. IOSR Journal Of Environmental Science, Toxicology And Food Technology, 7(2), 33-45
4. Directorate of Census Operations, Chhattisgarh, Government of India (2014). Census of India 2011, Series 23, Part XIIA.
5. Government of Uttarakhand. (2015). State Profile. Retrieved from http://uk.gov.in/pages/display/115-state-profile
6. Ministry of Home Affairs, Government of India (2009). National Policy on Disaster Management 2009. Retrieved from http://www.ndma.gov.in/images/guidelines/national-dm-policy2009.pdf
7. National Institute of Disaster Management (NIDM) (2014). India Disaster Report 2013. Delhi: Ministry of Home Affair, Government of India.
8. Nicolai, Susan and Carl Triplehorn (2003). The role of education in protecting children in conflict. London: Overseas Development Institute.
9. Pragya (2013). Devastating Flash Floods in Uttarakhand and Himachal Pradesh. Retrieved from https://www.pragya.org/doc/flashflood_update.pdf
10. Smith, A. (2010). The influence of education on conflict and peace building, Background paper prepared for the Education for All Global Monitoring Report 2011 The Hidden Crisis: Armed conflict and education, Paris: UNESCO.
11. The Times of India (Oct 25, 2014). Hudhud killed 46 in Andhra Pradesh, 21 lakh families hit. Retrieved from timesofindia.indiatimes.com

सास्वती पाइक अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ एजुकेशन में फैकल्टी हैं। वे चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों में शैक्षिक नीतियों और सार्वजनिक विद्यालय व्यवस्था में रुचि रखती हैं। उन्होंने भारत के ऐसे चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों में कुछ विद्यालयों का मानचित्रण शुरू कर दिया है जो भौतिक पहुँच, प्राकृतिक आपदाओं और सशस्त्र संघर्ष सम्बन्धी समस्याओं से पीड़ित हैं। उनसे saswati@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (डी.एन.ई.पी.) 2016 के प्रारूप में भाषा और साक्षरता

ए. गिरिधर राव एवं शैलजा मेनन





इस लेख में हम मानव संसाधन विकास मंत्रालय के 43 पृष्ठ वाले दस्तावेज *Some Inputs for Draft National Education Policy (MHRD, 2016b;* इस लेख में आगे इसे डी.एन.ई.पी.कहा जाएगा) पर एक नजर डालते हुए यह देखने का प्रयास कर रहे हैं कि इसमें भाषा और साक्षरता को कैसे सम्बोधित किया गया है। हमारा मानना है कि 217 पृष्ठ वाली *National Policy on Education 2016: Report of the Committee for Evolution of the New Education Policy (MHRD, 2016)* (आगे इसे सी.ई.एन.ई.पी.कहा जाएगा) को पढ़े बिना डी.एन.ई.पी. को समझना सम्भव नहीं है। इसलिए हमने अपनी समीक्षा में दोनों को ध्यान में रखा है। (आश्चर्य की बात यह है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय की वेबसाइट पर सी.ई.एन.ई.पी. को 'प्रासंगिक दस्तावेजों' की सूची के अन्तर्गत नहीं रखा गया है!) पहले हम भाषा सम्बन्धी नीतियों पर नजर डालेंगे और बाद में साक्षरता सम्बन्धी नीतियों पर।

डी.एन.ई.पी.-2016 में भाषा

डी.एन.ई.पी. के 'शिक्षा में भाषा और संस्कृति' नामक केवल एक भाग में भाषा के बारे में बात की गई है (पृष्ठ 30-31)। त्रिभाषा सूत्र (थ्री लैंग्वेज फार्मूला – टी.एल.एफ.), लोगों में अँग्रेजी सीखने की इच्छा और मातृ-भाषा (या प्रथम भाषा) में शिक्षण - ये तीनों मुद्दे भाषा से सम्बन्धित हैं, जिन्हें यहाँ सतही तौर पर लिया गया है। इसके अनुसार देश में टी.एल.एफ. का पालन असमान रूप से किया जा रहा है, '...बहुत से राज्यों में टी.एल.एफ. के कार्यान्वयन में भिन्नता रही है' (पृष्ठ 30)। सी.ई.एन.ई.पी. इस बारे में अधिक स्पष्ट है :

6.13.11 सभी राज्य माध्यमिक स्तर तक तीन भाषाओं में शिक्षा प्रदान नहीं कर रहे। वास्तव में देखा जाए तो कई राज्यों में इससे सम्बन्धित भिन्नताओं, साथ ही राज्यों के भीतर की स्थानीय विविधताओं की प्रकृति ऐसी है कि यह तर्क दिया जा सकता है कि राष्ट्रीय नीति के रूप में टी.एल.एफ. का पालन कम उल्लंघन अधिक हो रहा है। कुछ राज्यों में केवल दो भाषाएँ ही पढ़ाई जा रही हैं - राज्य भाषा और अँग्रेजी - ऐसा शायद राजनीतिक कारणों के चलते हो रहा है। कुछ हिन्दी भाषी राज्यों में टी.एल.एफ. का अर्थ अक्सर यूँ समझा जाता है कि किसी अन्य आधुनिक भारतीय भाषा के स्थान पर संस्कृत का अध्ययन करना। वाकई टी.एल.एफ. की भावना के विपरीत, हिन्दी भाषी राज्यों के अधिकांश विद्यालयों में दक्षिण भारतीय भाषाएँ नहीं पढ़ाई जातीं। विद्यालयी शिक्षा के कुछ बोर्ड तो विद्यार्थियों को केवल अँग्रेजी तथा किसी अन्य विदेशी भाषा में माध्यमिक विद्यालय की परीक्षा उत्तीर्ण करने की अनुमति देते हैं, जिससे वे हिन्दी या किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा को पढ़ने से भी बच जाते हैं।

टी.एल.एफ. के बारे में डी.एन.ई.पी.की सिफारिशें इस प्रकार हैं :

अँग्रेजी का ज्ञान विद्यार्थियों की राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय गतिशीलता में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और यह वैश्विक ज्ञान तक पहुँच प्रदान करता है। इसलिए बच्चों को अँग्रेजी पढ़ने-लिखने में कुशल बनाना आवश्यक है। अतः अगर प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा या स्थानीय भाषा या क्षेत्रीय भाषा है तो संवैधानिक प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए द्वितीय भाषा अँग्रेजी होगी और तृतीय भाषा के चयन का अधिकार (उच्च प्राथमिक व माध्यमिक स्तरों पर) राज्य विशेष और स्थानीय प्राधिकरणों के पास होगा (पृष्ठ 31)।

शिक्षण की तृतीय भाषा का चयन करने में 'राज्य विशेष और स्थानीय प्राधिकरणों' की स्वायत्तता एक सकारात्मक बात लगती है। लेकिन स्थानीय लोगों तथा भाषाई अल्पसंख्यकों (इन्डिजनस पीपल्स एंड लिंग्विस्टिक माइनॉरिटीज़ – आई.पी.एल.एम.) के बच्चों को विद्यालय की प्रथम भाषा को लेकर समस्या होती है। इसलिए इस बात पर ध्यान देना अनिवार्य है कि मातृ-भाषा शिक्षण के बारे में दस्तावेज क्या कहता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि डी.एन.ई.पी. मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षण का समर्थन करता है। डी.एन.ई.पी. स्वीकार करता है कि 'विद्यार्थियों को जब अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाता है तब वे बेहद अच्छे ढंग से सीखते हैं' (पृष्ठ

40)। लेकिन अगले ही वाक्य में यह बात फीकी पड़ जाती है - 'दूसरी ओर, अँग्रेजी भाषा को सीखने और अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले विद्यालयों की माँग बढ़ रही है'। 'दूसरी ओर' - यह वाक्यांश सुझाता है कि मातृ-भाषा शिक्षा और अँग्रेजी सीखना दोनों विरोधी बातें हैं। दुनिया भर की सफल द्विभाषी शिक्षा प्रणालियों से पता चलता है कि यह विरोध निराधार है : बच्चे काफी उच्च स्तर तक अपनी मातृ-भाषा के साथ में एक 'अन्य भाषा' सीख सकते हैं और सीखते हैं।

डी.एन.ई.पी. ने सी.ई.एन.ई.पी. की इस बात को स्वीकार किया है कि मातृ-भाषा शिक्षा सबसे अच्छी होती है :

6.13.18 समिति 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में व्यक्त इस विचार से सहमत है कि : भारतीय भाषाओं और साहित्य का शक्तिशाली विकास शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास की अनिवार्य शर्त है। जब तक यह नहीं किया जाता तब तक लोगों की रचनात्मक शक्तियाँ अभिव्यक्त नहीं हो पाएँगी, शिक्षा का स्तर नहीं बढ़ेगा, लोगों तक ज्ञान नहीं पहुँचेगा और बुद्धिजीवियों व जनता के बीच की खाई बनी रहेगी, भले ही वह और चौड़ी न हो' (पृष्ठ 98)।

ये शब्द तो बहुत बढ़िया हैं। लेकिन नीति में यह प्रतिबद्धता का बहुत कम दिखाई है।

भाषा के बारे में डी.एन.ई.पी. की नीतिगत पहलों में निम्नलिखित बातें शामिल हैं :

यदि राज्य और संघ शासित प्रदेश चाहें तो विद्यालयों में, पाँचवीं कक्षा तक, मातृ-भाषा, स्थानीय भाषा या क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान कर सकते हैं (पृष्ठ 31)।

एक तरफ तो इस दस्तावेज में इस बात की घोषणा की गई है कि अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से पढ़ाने से विद्यार्थी के अधिगम परिणाम बेहतर होते हैं, तो दूसरी ओर उसमें ये बातें जोड़ी गई हैं कि : 'यदि वे चाहें तो', 'शिक्षा प्रदान कर सकते हैं', 'मातृ-भाषा, स्थानीय भाषा या क्षेत्रीय भाषा' आदि। ये सब अपनी बात पर न टिकने या बचने के तरीके हैं जो आई.पी.एल.एम. के बच्चों को मातृ-भाषा में शिक्षा पाने से रोकते हैं।

ध्यान देने वाली बात यह है कि इन बच्चों की शिक्षा के मामले में डी.एन.ई.पी. और सी.ई.एन.ई.पी. अतिशयवादी हैं। यहाँ हम देखते हैं कि वास्तव में मातृ-भाषा शिक्षा का मतलब पूर्व-प्राथमिक शिक्षा है! डी.एन.ई.पी. के 40 पृष्ठ वाले दस्तावेज के बीच में कहीं जाकर पहली बार भाषा का उल्लेख किया गया है। 'समावेशी शिक्षा और विद्यार्थी सहायता' वाले अनुभाग में यह दस्तावेज कहता है,'आदिवासी बच्चों में शिक्षा का स्तर गम्भीर चिन्ता का विषय है...आदिवासी क्षेत्रों में कार्य करने वाले गैर-जनजातीय शिक्षकों के लिए भाषा और सम्प्रेषण भी एक समस्या है' (डी.एन.ई.पी. 2016, पृष्ठ 23)। उस खण्ड की नीतिगत पहलों में हम पढ़ते हैं कि :

'अनुभव दर्शाते हैं कि जनजातीय बच्चों को क्षेत्रीय भाषा में समझने और सीखने में कठिनाई होती है, जो आमतौर पर शिक्षण का माध्यम होती है। इस बाधा को दूर करने के लिए कदम उठाए जाएँगे और जहाँ कहीं आवश्यक हो, बहुभाषी शिक्षा का क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाएगा'। (डी.एन.ई.पी. 2016, पृष्ठ 24)

बच्चे क्षेत्रीय भाषा नहीं जानते - इस तथ्य को एक 'बाधा या अड़चन' (एक शारीरिक दोष के अपने सम्बन्ध के साथ) के रूप में देखा जाता है। शिक्षा प्रणाली 'बहुभाषी शिक्षा' के माध्यम से इस 'बाधा' को 'दूर' करेगी। 'बहुभाषी शिक्षा' क्या है, इसे समझने के लिए हमें सी.ई.एन.ई.पी. पर पुनः नजर डालनी होगी। 'जनजातीय बच्चों की शिक्षा' वाले अनुभाग में सी.ई.एन.ई.पी. का विचार है:

6.12.16 किन्हीं परस्पर संवादों के दौरान समिति को बताया गया था कि जनजातीय को क्षेत्रीय भाषा समझने में दिक्कत होती है जो शिक्षा का माध्यम है। हालाँकि आम धारणा यह थी कि वैसे तो शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा ही होनी चाहिए, लेकिन प्रारम्भिक कक्षाओं में स्थानीय बोली (कोई विशेष स्थानीय बोली या कोई भी स्थानीय बोली - हमें यह नहीं बताया गया) के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए। समिति को सूचित किया गया था कि बड़े जनजातीय आबादी वाले राज्यों में कई कार्यक्रम लागू किए जा रहे हैं जहाँ शिक्षक उस क्षेत्र की जनजातीय बोली में पढ़ाते हैं। अन्य राज्यों में द्विभाषी पाठ्यपुस्तकें बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं। प्रारम्भिक चरणों में शिक्षकों को स्थानीय बोलियों में प्रशिक्षण और अपेक्षित अधिगम सामग्री की आवश्यकता होगी (पृष्ठ 95)।

ध्यान दीजिए कि देशीय भाषाओं के लिए बड़ी असावधानी और उपेक्षा के साथ 'बोली' शब्द का प्रयोग किया गया है - समिति के अनुसार जनजातीय लोगों के पास केवल बोली है भाषा नहीं। सी.ई.एन.ई.पी. के अनुसार :

6.13.13 भाषा नीति को लागू करने के लिए, बच्चे के प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश करने से पहले, प्रारम्भिक चरणों में, शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृ-भाषा को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यह बहुत जरूरी है क्योंकि इस बारे में कुछ अध्ययन बार-बार किए गए और उनसे पता चला है कि भाषा और अंकगणित की बुनियादी अवधारणाओं को मातृ-भाषा में बहुत अच्छी तरह से सीखा जा सकता है। वाकई, बच्चा अपनी मातृ-भाषा को अपने घर और सामाजिक वातावरण से स्वाभाविक रूप से सीखता है। पूर्व-प्राथमिक स्तर और आँगनवाड़ी में, इस ज्ञान को मजबूत करने तथा बच्चों की मातृ-भाषा पर आधारित भविष्य की सभी शिक्षाओं के लिए एक ठोस आधार स्थापित करने पर जोर दिया जाना चाहिए जिनमें जनजातीय भाषाएँ भी शामिल होनी चाहिए।

बच्चे की मातृ-भाषा को केवल आँगनवाड़ी में स्थान मिलता है, विद्यालय में उसके प्रवेश के बाद नहीं। सी.ई.एन.ई.पी. में निम्नलिखित सिफारिशें की गई हैं :

9.23.6 कई राज्यों का यह अनुभव है कि जनजातीय बच्चों को क्षेत्रीय भाषा सीखने में दिक्कत होती है जो शिक्षा का माध्यम है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा होना चाहिए लेकिन कक्षा में पढ़ाते समय जो अन्तःक्रियाएँ होती हैं, उनके लिए स्थानीय भाषा का प्रयोग करना चाहिए (पृष्ठ 193)।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शिक्षा 2016 का प्रारूप

- आई.पी.एल.एम. के बच्चों को मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा मुहैया कराने की बात को नकारता है, सिर्फ मौखिक रूप से इसके महत्व की बात करता है;
- वस्तुतः, भाषाई समावेश की नीति को सक्रिय रूप से बढ़ावा देता है;
- इस प्रकार से आई.पी.एल.एम. के बच्चों के लिए अपर्याप्त संज्ञानात्मक और भावनात्मक परिणाम की स्थिति पैदा करता है।

साक्षरता शिक्षा

प्रारम्भिक साक्षरता के बारे में कहने के लिए हमारे पास ज्यादा कुछ नहीं है क्योंकि इस दस्तावेज में इसका बिलकुल भी उल्लेख नहीं है। यहाँ पर जो बात मुख्य रूप से हम कहना चाहते हैं वह यह है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इसका उल्लेख न होना एक बड़ी कमी है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। दस्तावेज में जहाँ कहीं भी साक्षरता का उल्लेख है भी (और ऐसा ज्यादा नहीं है), तो इसका उपयोग प्रौढ़ साक्षरता और आजीवन अधिगम के सम्बन्ध में किया गया है, और 'बुनियादी साक्षरता', 'कार्यात्मक साक्षरता' जैसे शब्दों का उपयोग उसे अभिलक्षित करने के लिए किया गया है।

हमारी दलील यह है कि सभी के लिए शिक्षा और शिक्षा का अधिकार नीतियों के तहत पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी बड़ी संख्या में पढ़ने के लिए विद्यालय जा रहे हैं और उनमें से बहुत से नाकाम हो रहे हैं, तो ऐसे में इस बात पर ध्यान देना लाजमी है कि इस नाकामी का कारण क्या है। इस दस्तावेज में कई स्थानों पर प्राथमिक और उच्च प्राथमिक स्तरों पर अधिगम की खराब गुणवत्ता की बात करते हुए यह कहा गया है कि प्रारम्भिक वर्षों में दिखने वाला यह प्रभाव माध्यमिक स्कूली शिक्षा और अन्ततः उच्च शिक्षा तक पहुँच जाता है। इस पहलू को यह कहकर छोड़ दिया गया है कि इसका कारण शिक्षक की गुणवत्ता, अभिप्रेरणा, अनुपस्थिति, मानदण्डों का पालन न करने वाले विद्यालय, आई.सी.टी. के उपयोग की धीमी प्रगति आदि हैं (पृष्ठ 8)। पढ़ना और लिखना विद्यालय आधारित अधिगम का मुख्य हिस्सा है जिसमें विषय-क्षेत्र से सम्बन्धित अधिगम भी शामिल है। प्रारम्भिक कक्षाओं में कुशलता से पढ़ने और लिखने में बच्चों की विफलता (जैसा कि बड़े पैमाने पर किए गए कई अध्ययनों में प्रलेखित है) के कारण विद्यालय-आधारित अन्य सभी अधिगमों की नींव कमजोर हो जाती है। इस कारण वे जीवन भर के लिए अर्ध-साक्षर बनकर रह जाते हैं - यानी वे अपने अधिगम या आनन्द और या फिर और अधिक व्यवहारिक उद्देश्यों जैसे कि रोजगार के अवसर आदि के लिए पढ़ने-लिखने में असमर्थ रहते हैं।

इसलिए विद्यालयों में शुरुआती पढ़ने-लिखने के शिक्षण के बारे में सुविचारित दृष्टिकोण और नीति की आवश्यकता है। हमारी राय में सिर्फ यह कह देना कि बच्चों को तीन भाषाएँ पढ़ानी चाहिए, प्रारम्भिक साक्षरता से सम्बन्धित मुद्दों पर एक सुविज्ञ स्थिति विकसित करने की दृष्टि से अपर्याप्त है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय का अपना दस्तावेज पढ़े भारत बढ़े भारत (एम.एच.आर.डी., 2014) मानता है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ना-लिखना विद्यालय आधारित अधिगम का आधार है और इसलिए यह सामान्य अधिगम स्तरों और परिणामों में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इस दस्तावेज में उन सिफारिशों की एक सूची दी गई है (व्यवस्था और विद्यालय-कक्षा के स्तर पर) और इसका मानना है कि देश को इन्हें अपनाना चाहिए। इनमें से कुछ ये हैं :

- शिक्षण के माध्यम की स्पष्टता। यह दस्तावेज इस बात की सिफारिश करता है कि कम से कम औपचारिक स्कूली शिक्षा के पहले 2-3 वर्षों तक बच्चों के घर की भाषा को कक्षा में समुचित स्थान दिया जाए।
- शुरुआती पढ़ने, लिखने और भाषा के लिए अनिवार्य रूप से प्रतिदिन 2.5 घण्टे (500 घण्टे प्रति वर्ष) का समय दिया जाए।
- पढ़ने व लिखने का शिक्षण करते समय इस बात पर जोर दिया जाए कि बच्चे समझ (बोधन) के साथ पढ़े-लिखें।
- बच्चों के लिए साहित्य सहित उचित सामग्रियों का विकास और उपयोग।
- पाठ्यचर्या, मूल्यांकन, अनुक्रियाशील पुनःशिक्षण, सामग्री विकास आदि की दृष्टि से पढ़ना-लिखना सीखने की प्रक्रिया को समझने और इसमें सहायता देने के लिए शिक्षकों, प्रशासकों आदि की क्षमता का निर्माण करना।

केयर-इंडिया और सेण्टर फॉर अर्ली चाइल्डहुड एजुकेशन एण्ड डेवलपमेंट (अम्बेडकर युनिवर्सिटी, दिल्ली) ने प्रारम्भिक भाषा और साक्षरता शिक्षण पर एक आधार पत्र जारी किया है (सी.ई.सी.ई.डी., 2016), जो सभी विद्यालय आधारित अधिगम में शुरुआती भाषा और साक्षरता की मूलभूत भूमिका को मानता है। अब चूँकि अधिकांश विद्यालयों में जब बच्चे भाषा के सम्पर्क में आते हैं तो पाठ्य-पुस्तक की भाषा से रूबरू होते हैं; इसलिए इसका सुझाव है कि प्रारम्भिक साक्षरता से जुड़े हुए मुद्दों को अपना एक ऐसा विशेष स्थान मिलना चाहिए जिन्हें भाषा की सामान्य नीतियों द्वारा सम्बोधित नहीं किया गया है।

ई.एल.एल.आई. आधार पत्र प्रारम्भिक साक्षरता शिक्षण के लिए विभिन्न सिफारिशें करता है जिन्हें आसानी से नीति की सिफरिशों में लिया जा सकता है। इनमें से कई सिफारिशें पढ़े भारत बढ़े भारत वाले दस्तावेज में भी हैं, लेकिन इसमें उनके अलावा यह सुझाव भी दिया गया है कि 3-8 वाले आयु वर्ग को सीखने की निरन्तर अवधि के रूप में देखा जाए, इस प्रकार पूर्व-प्राथमिक और प्राथमिक कार्यक्रमों को अनुबद्ध रूप से नियोजित किया जाए। इसमें विभिन्न सिद्धान्तों की रूपरेखा भी है, जिन्हें प्रारम्भिक कक्षाओं में अपनाया जाना चाहिए ताकि पढ़ने-लिखने में मदद मिले। डी.एन.ई.पी.का प्रारूप तैयार करते समय वर्तमान में उपलब्ध इनमें से किसी भी दस्तावेज पर विचार नहीं किया गया है जो एक महत्वपूर्ण चूक है। हमें शिक्षा की राष्ट्रीय नीति में प्रारम्भिक साक्षरता पर स्पष्ट रूप से ध्यान देना चाहिए और ऐसा जल्द से जल्द करना चाहिए।

References

1. CECED (Centre for Early Childhood Education and Development). (2016). *Early Language and Literacy in India: A Position Paper.* Delhi: Ambedkar University.
2. MHRD (Ministry of Human Resource Development). (2014). *Padhe Bharat Badhe Bharat: Early Reading and Writing with Comprehension & Early Mathematics Programme.* Retrieved from http://ssa.nic.in/pabminutes-documents/Padhe%20Bharat%20Badhe%20Bharat.pdf
3. MHRD (Ministry of Human Resource Development). (2016a). National Policy on Education 2016: Report of the Committee for Evolution of the New Education Policy. New Delhi: Ministry of Human Resource Development. Retrieved from http://www.nuepa.org/New/download/NEP2016/ReportNEP.pdf
4. MHRD (Ministry of Human Resource Development). (2016b). *Some Inputs for Draft National Education Policy 2016.* New Delhi: Ministry of Human Resource Development. Retrieved from http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/nep/Inputs_Draft_NEP_2016.pdf

ए.गिरिधर अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में भाषा नीति, भाषा शिक्षण शास्त्र, भाषाई मानवाधिकार, एस्परांतो, और भाषाई लोकतंत्र के कोर्स पढ़ाते हैं। वे अपने ब्लॉग bolii.blogspot.com पर इन विषयों पर लिखते हैं। उनसे rao.giridhar@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।

शैलजा मेनन अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु, में स्कूल ऑफ एजुकेशन में पढ़ाती हैं। साथ ही वे टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज-हैदराबाद, तेलंगाना में प्रारम्भिक साक्षरता पहल का भी नेतृत्व करती हैं। इसके पहले वे बोल्डर, कोलोराडो में कोलोराडो विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ एजुकेशन में कार्यरत थीं। वर्तमान में वे 'लिटरेसी रिसर्च इन इडिण्यन लैंग्वेजस' (LiRIL) नामक एक लोंगिट्यूडिनल प्रोजेक्ट का नेतृत्व कर रही हैं और वार्षिक द्विभाषी बाल-साहित्य महोत्सव 'कथावन' की मुख्य एंकर हैं। उनकी रचनाएँ अन्तरराष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं और वे कई सलाहकार समितियों में कार्यरत हैं जो भारत में प्रारम्भिक साक्षरता से सम्बन्धित नीति और कार्य की रचना करते हैं। उनसे shailaja.menon@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

शिक्षा और रोजगार : घेरे के बाहर से एक परिदृश्य

विकास मणियार



मैंने हाल ही में गुजरात के एक गाँव में कुछ समय बिताया जिसमें लगभग सभी लोग राठवा नामक जनजाति के हैं। उस समुदाय के साथ बातचीत से पता लगा कि 'धन्धो' (एक गुजराती शब्द जिसका मोटे तौर पर अर्थ है व्यवसाय) ही वह कारण है जिसकी वजह से वे अपने बच्चों को विद्यालय भेजना चाहते हैं। 'धन्धो' एक ऐसा शब्द है जिसका मतलब नौकरी करना (सार्वजनिक या निजी) या छोटे व्यवसाय करके अपने लिए रोजगार खुद पैदा करना हो सकता है। जब मैं इस बात की गहराई में गया तो स्पष्ट हुआ कि ये लोग नौकरी करना पसन्द करते हैं, विशेषकर सरकारी नौकरियाँ, जैसे कि शिक्षक, नर्स, पुलिस कांस्टेबल या सेना के जवानों की नौकरी। ये सरकार में प्रवेश स्तर की नौकरियाँ हैं (प्रशासनिक वर्गीकरण के अनुसार ग्रुप सी या ग्रुप डी वाली नौकरियाँ) जो अपेक्षाकृत प्रचुर मात्रा में हैं।

शिक्षा नीति के दस्तावेजों में इस बात का समर्थन किया गया है कि शिक्षा बच्चों को नौकरियाँ पाने के लिए तैयार करती है। नई शिक्षा नीति के लिए सलाह-मशवरे चल रहे हैं और मानव संसाधन विकास मंत्रालय की वेबसाइट में उसके प्रारूप दस्तावेज[1] का दावा है कि, "शिक्षा प्रणाली के उत्पादों की रोजगार क्षमता बढ़ाने को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए'। इसे अकादमिक समर्थन भी प्राप्त है। मानव पूँजी सिद्धान्त का प्रस्ताव है कि व्यक्ति के स्तर पर, शिक्षा एक निवेश है, जो भविष्य में बढ़ी हुई आय के रूप में भारी मुनाफा दे सकती है। राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो शिक्षा में उच्च निवेश से यह अपेक्षा की जाती है कि भविष्य में उच्च सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) बढ़े। इस प्रकार लोकप्रिय कल्पनाओं में शिक्षा और नौकरी का जुड़ाव काफी मजबूत है। किन्तु जमीनी स्तर की वास्तविकताओं ने मुझे एक अलग कहानी सुनाई।

भीलपुर (नाम बदल दिया गया है) गुजरात के छोटा उदेपुर जिले में 3000 लोगों की आबादी वाला एक गाँव है। यहाँ की प्रमुख आर्थिक गतिविधि है गुजर-बसर लायक कृषि और पश्चिमी भारत के बड़े शहरों जैसे जयपुर, वापी आदि में विभिन्न भवन निर्माण स्थलों में मौसमी मजदूरी। कुछ परिवार गुजरात में राजकोट और उसके आसपास कपास के खेतों में मौसमी साझा खेती भी करते हैं। स्थानिक रूप से गाँव को फलिया में नियोजित किया जाता है- फलिया यानी एक सामान्य पैतृक भूमि पर विस्तारित परिजनों का एक घर। परिवारों का भूमि पर अधिकार बहुत कम है, हर परिवार के पास औसतन 1-2 एकड़ जमीन होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी पुरुष उत्तराधिकारियों के बीच विभाजित होते-होते घटती जाती है। जमीन पर जो खेती की जाती है वह मुख्य रूप से अपने प्रयोग के लिए होती है और यह नकद आय का एक छोटा स्रोत है। भवन निर्माण स्थलों में मौसमी मजदूरी ही अन्य सभी जरूरतों को पूरा करने के लिए आय का प्रमुख स्रोत है और ऐसे स्थलों में काम करने वाले अधिकांश युवा (15 से 40 वर्ष के) साल में कम से कम कुछ महीनों के लिए अपने घरों से दूर रहते हैं। अधिकांश परिवार अपने बच्चों के लिए नौकरी, खासकर सरकारी नौकरी की कामना करते हैं। इसे गरीबी से छुटकारा पाने का तरीका और गुजर-बसर लायक कृषि पर निर्भर जीवन की अनिश्चितताओं के विरुद्ध बीमा माना जाता है। इसके बावजूद पाँच प्रतिशत परिवार के सदस्य सार्वजनिक या निजी क्षेत्रों में वेतनभोगी कर्मचारी हैं और जैसी कि आगे चर्चा की जाएगी, इस बात की सम्भावना कम ही है कि उन्हें वेतनभोगी नौकरियाँ मिलें।

इस गाँव में चार विद्यालय हैं : एक निम्न प्राथमिक विद्यालय (कक्षा 1-5); एक उच्च प्राथमिक विद्यालय (कक्षा 1-8); एक आवासीय आश्रम विद्यालय (कक्षा 1-8) और एक नया खोला गया मॉडल विद्यालय (कक्षा 6-12)। माध्यमिक विद्यालय की पढ़ाई जारी रखने वाले कई विद्यार्थी छोटा उदेपुर के माध्यमिक विद्यालय में जाते हैं। पिछले साल छोटा उदेपुर तालुक (ब्लॉक) में माध्यमिक शिक्षा में दाखिला लेने वाले लगभग 50% बच्चों ने एस.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण की और उनमें से जो विद्यार्थी उच्च माध्यमिक विद्यालय में गए उनमें से 33% ही एच.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण कर पाए। तो जो विद्यार्थी माध्यमिक विद्यालय में गए, उनमें से केवल 17% ही इसे पूरा करने में सफल हो पाए। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि कई बच्चे माध्यमिक शिक्षा तक पहुँच ही नहीं पाते, यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में माध्यमिक शिक्षा पूरा करने की प्रतिशतता दर एक अंकीय होने की सम्भावना है और उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले तो इससे भी कम हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कई सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में, जहाँ नौकरी की

[1]प्रारूप राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2016 के लिए कुछ इनपुट

न्यूनतम योग्यता एस.एस.सी. और एच.एस.सी. होती है, वहाँ इस क्षेत्र के युवा लोगों को नौकरी मिलने की कोई सम्भावना ही नहीं है।

यदि नौकरियों की उपलब्धता को देखें तो स्थिति उतनी ही निराशाजनक है। यहाँ आसपास के क्षेत्र में अधिक उद्योग या ऐसी नौकरियाँ नहीं हैं जिनसे कमाई की जा सके। स्थानीय रूप से उपलब्ध नौकरियों में से अधिकतर ऐसी नहीं जिन पर आश्रित हुआ जा सके और वहाँ वेतन भी अच्छा नहीं है जैसे डोलोमाइट पत्थर तोड़ना या रेत उत्खनन जैसे काम। वैसे तो अनुसूचित जनजातियों के वर्ग के तहत सकारात्मक कार्रवाई के कारण समुदाय के सदस्यों को इन नौकरियों में आरक्षण प्राप्त है, लेकिन इसके बावजूद प्रतिष्ठित सरकारी नौकरियों के अवसर बहुत सीमित हैं। नतीजतन, अक्सर वे प्रतिकूल परिस्थितियों में अनौपचारिक क्षेत्र की नौकरियों का सहारा लेते हैं, जब भी वे उपलब्ध हों। उनके पास नौकरियों के लिए सबसे व्यावहारिक विकल्प यह होता है कि वे भवन निर्माण के लिए शारीरिक श्रम करने बड़े शहरों में चले जाएँ क्योंकि औपचारिक क्षेत्र की नौकरियाँ, फिर चाहे वे सरकारी हों या निजी क्षेत्र की, इतनी कम हैं कि अधिकांश उम्मीदवारों को ये मिल नहीं पातीं। गाँव के भीतर कौशल आधारित स्व-रोजगार की गुंजाइश के बारे में ज्यादा पता नहीं लगाया गया है, लेकिन इस बात की सम्भावना कम ही है कि यह आजीविका का एक प्रमुख स्रोत बन पाएगा। आखिर इस गाँव में मुट्ठीभर बिजली-मिस्त्री (इलेक्ट्रिशियन) और नलसाज (प्लम्बर) की ही जरूरत तो पड़ेगी, जबकि रोजगार चाहने वाले युवाओं की संख्या बहुत अधिक है। यहाँ के अधिकांश परिवार रोज कमाकर खाने वाले परिवार हैं, एक छोटे कारोबार की शुरुआत के लिए आवश्यक पूँजी जुटा पाना उनकी पहुँच के बाहर है। इस सबके बीच शिक्षित युवा गुजर-बसर लायक कृषि से भी दूर होते जा रहे हैं, जिसने परम्परागत रूप से श्रम बाजार की अनिश्चितताओं से परिवारों को बचाए रखा है।

इस स्थिति के बारे में आम प्रतिक्रिया यह है कि युवाओं या उनके परिवारों को दोषी ठहरा दिया जाता है कि उन्होंने शिक्षा को गम्भीरता से नहीं लिया। या फिर शिक्षा प्रणाली पर आरोप लगा दिया जाता है कि उसने अच्छी तरह से कार्य नहीं किया, 'गुणवत्तापूर्ण' शिक्षा नहीं दी। इस स्थिति के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि युवाओं में जो कौशल है और उद्योग जो चाहता है - ये दोनों बातें बेमेल हैं। इन दावों में कुछ सच्चाई तो है लेकिन यह अधूरी कहानी है।

यहाँ तक कि उच्च शिक्षा प्राप्त युवा पुरुष व महिलाएँ भी रोजगार पाने में असमर्थ हैं और अगर उन्हें नौकरी मिलती भी है तो वह कदाचित अनौपचारिक क्षेत्र में होती है। कुछ अनुमानों के अनुसार भारत में 90% से अधिक नौकरियाँ अनौपचारिक क्षेत्र में होती हैं। एक के बाद एक आने वाली सरकारें नौकरी सृजन की जो बयानबाजी करती रहती हैं उनका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला है। वास्तव में हम बढ़ती हुई बेरोजगारी[2] की परछाई को साफ देख रहे हैं, जहाँ मशीनीकरण के कारण उद्योग में अधिक लोगों की जरूरत ही नहीं पड़ती। मुनाफा कमाने वाले पूँजीवादी उद्यम रोजगार का सृजन करने के प्रति उदासीन हैं। अगर उनके पास कोई विकल्प हो तो वे कम से कम रोजगार से अपना काम चला लें - बशर्ते कि उससे अधिकतम लाभ होता हो और कार्य करने में आसानी हो। क्लीस (2014)[3] एक शक्तिशाली तर्क देते हुए कहते हैं कि,' रोजगार श्रमिक आपूर्ति की समस्या नहीं है, वरन पूँजीवाद की संरचनात्मक समस्या है। इस ग्रह पर दो अरब या उससे अधिक बेरोजगार या अवनियोजित (under & employed) लोग हैं, ऐसा इसलिए नहीं कि वे कार्य-कुशल नहीं है, लेकिन इसका कारण यह है कि पूर्ण रोजगार न तो पूँजीवाद का लक्षण है और न ही लक्ष्य। यह स्थिति विशेष रूप से उपनिवेशोत्तर देशों जैसे भारत में विकट है क्योंकि यहाँ का जनसांख्यिकीय और आर्थिक परिदृश्य पश्चिम के विकसित देशों से काफी भिन्न है।

इस बीच, आजीविका और निर्वाह के पारम्परिक तरीकों को छोड़ देना एक अनुभवजन्य वास्तविकता है। जब मैंने सामुदायिक नेताओं और स्थानीय प्रशासन के साथ बातचीत की तो इस विश्लेषण की पुष्टि हुई। जब उनके साथ अनौपचारिक रूप से बात होती थी तो वे सामान्य बुद्धि के हिसाब से इस धारणा को दोहराते कि नौकरियाँ पाने के लिए शिक्षा अच्छी है, लेकिन जब भी मैं उनके साथ गम्भीर चर्चा करता तो वे मानते थे कि नौकरियाँ मिलना बहुत कठिन है, लगभग असम्भव है और शिक्षा से नौकरियाँ पाने में मदद नहीं मिल रही। समुदाय के एक सदस्य ने शिक्षित बेरोजगार लोगों के लिए तो यहाँ तक कहा कि इन लोगों के पास अधपकी शिक्षा (गुजराती में

[2] उदाहरण के लिए को हिन्दुस्तान टाइम्स में 15 मार्च,2017 को छपा लेख 'इण्डिया मस्ट बी केयरफुल : जॉबलेस ग्रोथ केन लीड टू सोशल अनरेस्ट' देखें।

[3] सलीम वैली और एन्वर मोटाला द्वारा लिखित 'एजुकेशन, इकोनोमी एण्ड सोसायटी' से उद्धरित।

अधकचरू भनेला) है जिसके चलते ये लोग न तो खेतों में काम करते हैं और न ही शारीरिक श्रम जैसे कि मजदूरी आदि करते हैं। ऐसे ही लोगों से शराब तस्करी या स्थानीय राजनेताओं की चाकरी करने वाला काम बहुत आसानी से करवाया जाता है।

अगर हालत ऐसी है तो फिर शिक्षा एवं रोजगार के सम्बन्ध का पुनर्मूल्यांकन गम्भीरतापूर्वक किया जाना चाहिए। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इसका मतलब यह नहीं है कि नौकरियों के सृजन या कौशल विकसित करने के प्रयासों को छोड़ने की माँग की जा रही है, यह तो एक अनुरोध है कि केवल इसी पर भरोसा करना ठीक नहीं क्योंकि इसकी अपनी सीमाएँ हैं; अतः इन सीमाओं और इस दृष्टिकोण पर आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए- उसके बारे में फिर से विचार किया जाना चाहिए। अब तक 'जनसांख्यिकीय लाभांश' को दूर करने पर जितनी भी बहस हुई है, उसमें पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में नौकरियों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। यह प्रासंगिकता की पुरानी बहस का एक नया रूप नहीं है, जहाँ किसी व्यक्ति ने बच्चे को अपने 'जीवन के मुकाम' के लिए शिक्षित कर दिया और इस प्रक्रिया में उसे 'आधुनिक' दुनिया की सम्भावनाओं से वंचित कर दिया। यह तो केवल एक सुझाव है ताकि ऐसी अन्य सम्भावनाओं का पता लगाया जा सके जिन्हें शिक्षा प्रदान कर सकती है और जिनसे युवा समूह का आर्थिक रूप से भला हो सके। यह तो एक निवेदन है कि जो चीज अब तक कारगर रही उसे तब तक बनाए रखें जब तक कि अन्य व्यवहार्य विकल्प उपलब्ध न हों। आजीविका के साथ-साथ नौकरियों पर भी ध्यान दिया जाए। यह कोई नई बहस नहीं है। जब गांधी जी ने नई तालीम का प्रस्ताव रखा था तब उन्हें इस बात का अनुमान था। नई तालीम गांधी जी के ग्राम स्वराज सम्बन्धी दृष्टिकोण से जुड़ी हुई थी। इस गाँव में 1950 में स्थापित आश्रम शाला में इसी गांधीवादी दृष्टिकोण को आत्मसात किया गया लेकिन अब वह कौशल और नौकरियों के वर्तमान विचारों के वशीभूत हो गया है।

वर्तमान काल में Bonaventura de Sousa Santos जैसे विद्वान भी ऐसे विकल्पों की ओर ध्यान देने की बात कहते हैं जो उत्पादन के पूँजीवादी तरीकों से परे नजर डालें और उत्पादन के सहकारी तरीके या हितकारक अर्थ व्यवस्था, वैकल्पिक विकास और विकास के विकल्प खोजने का प्रस्ताव रखें। अगर हमारी शिक्षा नीति को इस सुझाव के अनुसार चलना है तो सबसे पहले जमीनी स्तर की वास्तविकताओं को वैसे ही स्वीकारना होगा जैसी वे हैं और उसके बाद गम्भीरता के साथ यह समझने की कोशिश करनी होगी कि वे किन बारीकियों के साथ वास्तव में सामने आती हैं। भीलपुर तो सिर्फ एक गाँव है - अन्य गाँवों में कुछ अलग चीजें होंगी और शहर में रहने वाले गरीबों के सामने कुछ और मुद्दे होंगे। लेकिन हम इन सबका जवाब तभी दे पाएँगे जब हम उनकी कठिन परिस्थितियों को स्वीकारें और उसे समझने के लिए तैयार हों।

विकास मणियार स्कूल ऑफ एजुकेशन, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं। उनसे vikas.maniar@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

डेलर्स रिपोर्ट पर पुनः चर्चा : भारत के लिए सबक

अर्चना मेहेंदले



आज भारत की शिक्षा प्रणाली सुधार के दौर से गुजर रही है और विविध स्रोतों से नीतिगत सिफारिशें अपने प्रतिस्पर्धी दावों के साथ उभरकर सामने आ रही हैं, जिसकी वजह से स्पष्टीकरण या मार्गदर्शन की बजाय भ्रमित होने की सम्भावना बढ़ गई है। ऐसे में डेलर्स रिपोर्ट पर पुनः नजर डालना उचित प्रतीत होता है। डेलर्स रिपोर्ट का शीर्षक है 'लर्निंग - द ट्रेशर विदिन' (1996)। इसमें मौजूदा शैक्षिक चुनौतियों और व्यक्ति व सामाजिक विकास में शिक्षा की भूमिका का प्रखर विश्लेषण किया गया है। यूनेस्को ने जैक्स डेलर्स की अध्यक्षता में बीसवीं सदी के लिए शिक्षा पर एक अन्तरराष्ट्रीय आयोग का गठन किया। इस आयोग को वास्तविकताओं की जाँच करने और यह प्रस्तावित करने का कार्य सौंपा गया कि शिक्षा प्रणाली किस प्रकार से नई सदी में पैदा होने वाली अधिगम सम्बन्धी सरोकारों को दूर कर सकती है। इस कार्य को उन अन्तरराष्ट्रीय प्रयासों की निरन्तरता के रूप में देखा जाना चाहिए जो जोमटेन में सभी के लिए शिक्षा की विश्व घोषणा (1990) को अपनाने के साथ शुरू हुई और जिसमें विश्व निर्धनता, अज्ञान, बहिष्करण, उत्पीड़न व युद्ध को कम करने और शान्ति, स्वतंत्रता, तथा सामाजिक न्याय को बहाल करने के लिए शिक्षा के महत्व पर जोर दिया गया था। नई सदी का एक दशक से अधिक समय समाप्त हो चुका है और अब समय आ गया है कि हम इस महत्वपूर्ण रिपोर्ट की मुख्य बातों की समीक्षा करें और यह समझने का प्रयास करें कि वर्तमान भारतीय शिक्षा क्षेत्र में जो नीतियाँ बनाई जा रही हैं, उस प्रक्रिया में मार्गदर्शन करने के लिए वे कितनी प्रासंगिक हैं।

अधिगमशील समाज का निर्माण

डेलर्स की रिपोर्ट ने इस बात को रेखांकित किया कि सीखने को कैसे सीखा जाए-यह बात अधिगमशील समाज के निर्माण का सार है जहाँ हर एक व्यक्ति शिक्षक भी होगा और शिक्षार्थी भी। यह विचार पहली यूनेस्को रिपोर्ट 'लर्निंग टु बी' (1972) पर आधारित है। इसे एडगर फाउर की अध्यक्षता में तैयार किया गया जिसमें सार्वभौमिक रूप से मान्य ऐसे निष्कर्ष और सिफारिशें दी गईं जिन्हें राष्ट्रीय रूप से लागू किया जा सके। यह एक कठिन कार्य था। इसमें कुछ नए परिप्रेक्ष्यों की पेशकश की गई, जैसे कि शिक्षा ''बच्चों और युवाओं के लिए स्नेह की अभिव्यक्ति है, जिनका हमें समाज में स्वागत करना है, और निस्सन्देह उन्हें वह स्थान दिलाना है जो वास्तव में उनका अधिकार है (पृष्ठ 12)।'' इसमें औपचारिक शिक्षा प्रणाली की प्रमुखता और शिक्षा की भूमिका को महत्व देते हुए कहा गया कि,'' कोई भी चीज औपचारिक शिक्षा प्रणाली का स्थान नहीं ले सकती, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान के कई रूपों से परिचित करवाया जाता है''(पृष्ठ 19) और यह कि ''शिक्षक-छात्र सम्बन्ध का कोई विकल्प नहीं है'' (पृष्ठ 19) और शिक्षक की जिम्मेदारी है कि वह ''विद्यार्थियों को वह ज्ञान प्रदान करे जिसे मानव जाति ने अपने और प्रकृति के बारे में हासिल किया है और इसने जो कुछ भी बनाया या जिसका भी आविष्कार किया है उसके महत्व के बारे में बताए'' (पृष्ठ 20)। रिपोर्ट के मुख्य कार्यों में से एक यह भी था कि आजीवन शिक्षा और ''अधिगमशील समाज की ओर बढ़ने की आवश्यकता'' पर जोर दे। डेलर्स की रिपोर्ट का शीर्षक इस मुख्य प्रस्ताव से लिया गया है कि''प्रत्येक व्यक्ति में जो प्रतिभा किसी गड़े हुए खजाने की तरह छिपी हुई होती है उसे अनदेखा नहीं छोड़ना चाहिए'' (पृष्ठ 21)। इनमें स्मरण शक्ति, तर्क शक्ति, कल्पना, शारीरिक क्षमता, सौन्दर्य बोध, दूसरों के साथ बातचीत करने की योग्यता, नेतृत्व और ऐसे ही अन्य गुण शामिल हैं।

इस रिपोर्ट में सात तरह के 'तनावों' की बात कही गई है, जिन पर इक्कीसवीं शताब्दी में विजय पानी है। चार स्तम्भ प्रस्तावित किए हैं जो अधिगमशील समाज के निर्माण में सहायता करेंगे (देखें बाक्स 1 और 2)। इन्हें रिपोर्ट की मुख्य विशेषताएँ माना जाता है। यह रिपोर्ट स्थायी मानव विकास, लोकतंत्र और आपसी समझ के विजन की बात करती है और इन्हें पाने के लिए जिन सात तनावों को दूर करना है, उनके बारे में बताती है। इस रिपोर्ट में तनावों को जीतने के बारे में कोई मार्ग नहीं सुझाया गया है, बल्कि उन विभिन्न कारकों पर ध्यान दिया गया है जो तनाव में योगदान देते हैं और जिनसे नीति निर्माताओं को निपटना है। रिपोर्ट के अनुसार 'नई मानसिकता' लाने के लिए चार स्तम्भों में से सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ है 'एक साथ रहना सीखना' और इससे ही आपसी समझ और पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ती है। अन्य तीन स्तम्भ हैं 'जानना सीखना', 'करना सीखना' और 'होना सीखना'; जिन्हें 'एक साथ रहना सीखने' का आधार माना गया है।

जिन तनावों पर विजय प्राप्त करनी है
1. वैश्विक और स्थानीय
2. सार्वभौमिक और व्यक्तिगत
3. परम्परा और आधुनिकता
4. दीर्घकालिक और अल्पकालिक विचार
5. प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता और अवसर की समानता का सरोकार
6. ज्ञान का असाधारण विस्तार और उसे आत्मसात करने की मनुष्य की क्षमता
7. आध्यात्मिक और भौतिक

बाक्स 1

भाषा और उपयोग में लाए जाने वाले शैक्षणिक उपकरणों की समीक्षा करनी होगी। लेकिन इस तरह के टुकड़े-टुकड़े दृष्टिकोण की बजाय शिक्षा की एक नई नीति स्थापित करनी होगी जो पहले की नीतियों से वे प्रासंगिक विचार ले जिन्हें या तो उपेक्षित किया गया या आंशिक रूप से कार्यान्वित किया गया। साथ ही यह नीति ऐसी होनी चाहिए जो तात्कालिक चुनौतियों से परे जाकर अग्रदर्शी भी हो।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ. 2005) व्यापक और विविध रूपों से 'तनावों' और 'स्तम्भों' दोनों का उल्लेख करती है। पाठ्यचर्या के उद्देश्यों में वैश्विक और स्थानीय

अधिगमशील समाज के निर्माण के लिए प्रस्तावित चार स्तम्भ	
1. जानने के लिए सीखना	इसमें ज्ञान का व्यापक विस्तार और गहराई, अधिगम को सीखना शामिल है
2. करने के लिए सीखना	इसमें व्यावसायिक और सामाजिक कौशल का अधिग्रहण शामिल है
3. एक साथ रहने के लिए सीखना	इसमें परस्पर निर्भरता की कद्र करना आ जाता है
4. अस्तित्व के लिए सीखना	इसमें व्यक्तिगत स्वायत्तता, विवेकपूर्ण निर्णय और जिम्मेदारी के साथ कार्य करने की क्षमता शामिल है

बाक्स 2

भारत के सन्दर्भ में नीति की प्रासंगिकता

हालाँकि डेलर्स रिपोर्ट को काफी महत्वपूर्ण समीक्षा प्राप्त हुई और इसकी सिफारिशें भी की गईं, लेकिन अकादमिक समुदाय या नीति निर्माताओं ने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया। ऐसा शायद इसलिए कि नब्बे के दशक के मध्य में भारत एक अलग प्रकार के संघर्षों और परिवर्तनों से गुजर रहा था, जिसमें नए बाह्य वित्त पोषित मिशन मोड वाले कार्यक्रमों को शामिल किया गया था जैसे कि सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्यों की पूर्ति, शिक्षा प्रशासन में सुधार, विकेन्द्रीकरण और शिक्षा के क्षेत्र को सार्वजनिक-निजी भागीदारी के लिए खोलना आदि। डेलर्स रिपोर्ट इन बुनियादी चुनौतियों को सन्तुष्ट नहीं कर पाई और इसलिए नीतिगत एजेंडा पर प्रभाव नहीं डाल सकी। तो हमें यह सवाल पूछना है कि क्या अब हम डेलर्स रिपोर्ट में प्रस्तावित अधिगमशील समाज और शिक्षा के बृहत उद्देश्य अपनाने के लिए तैयार हैं?

इस तेजी से बदलते वैश्विक समाज में शैक्षिक तंत्र को जिस तरह से व्यवस्थित किया जाना चाहिए, उसके बारे में इस रिपोर्ट का योगदान काफी गहन है। नीति के स्तर पर इन विचारों के साथ जुड़ने के लिए शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षा के दर्शन, पाठ्यचर्या, सन्तुलन का तनाव एवं तेजी से विस्तारशील ज्ञान के कारण उसे आत्मसात करने की चुनौती को एन.सी.एफ. में न केवल नीति निर्माताओं ने वरन शिक्षकों और शैक्षिक पेशेवरों ने भी स्वीकार किया है।

सार्वभौमिक और आधुनिक दबावों के कारण व्यक्तिगत और पारम्परिक प्रणालियों के संरक्षण की चुनौती का सामना करना पड़ता है। यह कार्य जमीनी स्तर पर काम कर रहे लोगों द्वारा किया गया है विशेष रूप से भाषाओं, स्थानीय संस्कृति, कला, शिल्प और पारम्परिक कौशलों के संरक्षण के सम्बन्ध में। प्रतिस्पर्धा और अवसर की समानता को बढ़ावा देने के बीच जो तनाव है, वह एक विवादास्पद मुद्दा है, विशेष रूप से उच्च शिक्षा में, हालाँकि भारतीय संविधान सकारात्मक कार्रवाई और अवसर की समानता प्रदान करता है।

दीर्घकालिक और अल्पकालिक लक्ष्यों के बीच सन्तुलन एक और 'तनाव' है जिससे नीति निर्माता लगातार जूझते रहते हैं और राजनीतिक होड़ में अक्सर अल्पकालिक मुद्दों और एजेंडा को प्राथमिकता दी जाती है। शिक्षा के दीर्घकालिक लक्ष्य बयानबाजी तक सीमित रहते हैं, उनमें कार्य परिचालन के ठोस रास्ते नहीं दिखाए जाते और इसलिए राजनीतिक निर्वाचन क्षेत्र ऐसे दीर्घकालिक लक्ष्यों की कल्पना को समझने

में विफल होते हैं और इन लक्ष्यों को उनका समर्थन नहीं प्राप्त हो पाता। परिणामस्वरूप, नीति निर्माण की कोई भी प्रक्रिया हालाँकि सहज रूप से भविष्य की दिशाओं का मार्गदर्शन करने के लिए होती है, लेकिन वास्तव में वह तात्कालिक समस्याओं के निपटान के परे नहीं जा पाती। यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि तनावों को चरम स्थिति या 'दोनों में से या तो यह या वह' के रूप में न लिया जाए बल्कि एक निरन्तरता के रूप में लिया जाए जिसमें चुनौती लगातार काम करने और उस निरन्तरता में अपनी स्थिति को समझने की होगी। यहाँ यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता हो सकती है कि निरन्तरता की यह व्यापक रूपरेखा एक ऐसी आधिकारिक नीति के माध्यम से तय की जाए जो विभिन्न राज्य और गैर-राज्य कर्ताओं पर बाध्यकारी हो और या निरन्तरता पर विभिन्न स्थितियों को विकल्प की एक सूची के रूप में पेश किया जाए जिसमें विकल्प माता-पिता का होगा कि इन प्रतिस्पर्धात्मक विकल्पों या 'तनाव' के बीच मिश्रण कैसे करें।

दूसरे शब्दों में, क्या नीति को यह हद निर्धारित करनी चाहिए कि पाठ्यचर्या कहाँ तक वैश्विक बनाम स्थानीय हो या विभिन्न प्रदाताओं को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे 'वैश्विक' और 'स्थानीय' के बारे में अपनी धारणा और अपने उद्देश्यों के हिसाब से सुझाव दें तथा माता-पिता या विद्यार्थियों पर यह बात छोड़ दें कि वे किस तरह की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। यह समझना भी जरूरी है कि तनाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं और किसी एक के बारे में लिया गया निर्णय अन्य तनावों से निपटने को प्रभावित कर सकता है।

एन.सी.एफ. ने डेलर्स की रिपोर्ट में प्रस्तावित चार स्तम्भों का उल्लेख किया है, पर ध्यान देने वाली बात यह है कि रिपोर्ट में 'एक साथ रहना सीखने' को सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ माना गया, जिसका निर्माण करना इसलिए जरूरी है क्योंकि इसी से इक्कीसवीं सदी की वैश्विक चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। बाकी के तीन स्तम्भ जानने के लिए सीखना, करने के लिए सीखना और अस्तित्व के लिए सीखना 'एक साथ रहना सीखने' के आधार हैं। अधिगम की समग्र समझ वाली यह बात हमारी शिक्षा प्रणाली में शायद ही आ पाई है। यहाँ तक कि ज्ञान पर जो ध्यान दिया गया है वह भी विद्यार्थियों द्वारा अधिक से अधिक जानकारी इकट्ठा करने तक सीमित है बजाय इसके कि जानना 'सीखा' जाए और यह सीखा जाए कि कैसे सीखा जाता है। कौशल सीखने और अपनी क्षमताओं को साकार करने से सम्बन्धित स्तम्भ काफी हद तक उपेक्षित रहे हैं। रिपोर्ट के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ, जो एकता के निर्माण और साथ रहना सीखने पर केन्द्रित है, हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा के बाहर लगता है, शायद इसका कारण अन्य तीन स्तम्भों की तुलना में इसका महत्वपूर्ण राजनीतिक स्वरूप है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाना उचित होगा कि अधिगम के बारे में हमारी समझ और शिक्षा के उद्देश्यों को इन चार स्तम्भों से किस तरह का महत्वाकांक्षीय मूल्य प्राप्त होगा।

प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति के इनपुट पर मानव संसाधन मंत्रालय की टिप्पणी में दिए गए कुछ नीतिगत प्रस्ताव भी डेलर्स रिपोर्ट की सिफारिशों को दोहराते हैं। टिप्पणी के विजन में स्थानीय समृद्ध विरासत और प्राचीन ज्ञान की रक्षा करते हुए वैश्विक माँगों को पूरा करने की अत्यावश्यकता की बात कही गई है। इसका उद्देश्य तेजी से बदलते वैश्विक, ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था के अनुसार कार्य करना है और ऐसा करने में साम्यता और समावेशन के लक्ष्यों को भी ध्यान में रखना है। वैसे तो नीति की टिप्पणी ज्ञान और कौशल के विकास को तनाव के रूप में नहीं देखती लेकिन उन्हें बढ़ाने की बात कहती है। आजीवन अधिगम के लक्ष्य को नीति की टिप्पणी में अनुमोदित किया गया है, जिसमें कहा गया है कि समाज के सभी खण्डों को शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए।

डेलर्स की रिपोर्ट की प्रासंगिकता और अन्तर्दृष्टि के इस चिन्तन का सारांश देते समय यह याद रखना उपयोगी होगा कि हाल में शिक्षा प्रणाली में धीमी गति से ही सही किन्तु निश्चित तौर पर बदलाव आया है। हालाँकि दूसरे देश जिन चुनौतियों और मुद्दों के साथ जूझ रहे हैं, उन्हीं का सामना हमारी शिक्षा प्रणाली भी कर रही है, लेकिन इस रिपोर्ट के योगदान को ध्यान में रखना उपयोगी होगा। अब समय आ गया है कि इसमें की गई बयानबाजी के आधार पर इसे खारिज करने की बजाय हमारा शिक्षा समुदाय इन प्रश्नों पर चर्चा करे और यह देखे कि इन विचारों से हमारी शिक्षा प्रणाली को आकार देने में कैसे मदद मिल सकती है और इस बात की जाँच करें कि हमें वास्तव में क्या सीखना चाहिए।

अर्चना मेहेंदले टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुम्बई के सेंटर फॉर एजुकेशन इनोवेशन एण्ड एक्शन रिसर्च में प्रोफेसर हैं। उनसे archana.mehendale@tiss.edu पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

खण्ड ख

कार्य क्षेत्र से





अधिक कार्यकुशलता और पारदर्शिता लाने के लिए नई शिक्षक स्थानान्तरण नीति

आर. पार्थसारथि

शिक्षण बहुत ही कठिन और चुनौतीपूर्ण पेशा है जिसके साथ एक महान सामाजिक जिम्मेदारी की भावना भी जुड़ी हुई है। इसलिए अगर शिक्षकों को अपने पेशे के साथ न्याय करना है तो यह जरूरी है कि वे अपने विद्यालय, बच्चों और समुदाय पर ध्यान केन्द्रित करें और उनका मन इधर-उधर न भटके। शिक्षक स्थानान्तरण के कारण शिक्षकों को बहुत तनाव का सामना करना पड़ता था और अपने कार्य से उनका ध्यान बँट जाया करता है। नौकरी के स्थान को लेकर शिक्षकों के मन में कुछ प्राथमिकताएँ होती हैं जिन्हें विद्यालय की जरूरतों के साथ सन्तुलित किया जाना चाहिए। लेकिन इन मामलों की सही जानकारी शिक्षकों को नहीं होती और इनके बारे में पता करने के लिए उन्हें यहाँ-वहाँ भटकना पड़ता है। अतः जो लोग इन बातों की जानकारी रखते हैं उन्हें अनुचित शक्ति मिल जाती है और वे इसका फायदा भी उठाते हैं; परिणामस्वरूप विद्यार्थियों के अधिगम पर बुरा प्रभाव पड़ता है। केन्द्रशासित प्रदेश पुदुचेरी में शिक्षा विभाग ने शिक्षक स्थानान्तरण के लिए एक नई नीति प्रस्तुत की है ताकि शिक्षकों की तैनाती की प्रक्रिया में अधिक पारदर्शिता और साम्यता लाई जा सके। इस लेख में पिछली प्रणाली के मुद्दों, नई नीति में प्रस्तावित स्थानान्तरण के मानदण्ड व प्रक्रियाओं और पहले चक्र में लोगों तक इसे पहुँचाने (रोल आउट) के हमारे अनुभव पर एक नजर डाली गई है।

1. पृष्ठभूमि

पुदुचेरी केन्द्र शासित प्रदेश (यू.टी.) है जो भौगोलिक रूप से अलग-अलग फैले हुए चार जिलों से मिलकर बना है। ये जिले हैं-पुदुचेरी, करैकल (तमिलनाडु में स्थित), यानम (आन्ध्रप्रदेश में स्थित) और माहे (केरल में स्थित)। केन्द्रशासित प्रदेश में 419 विद्यालय हैं, जिनमें से 277 विद्यालय पुदुचेरी जिले में हैं। 2.5 लाख विद्यार्थियों की आबादी में से 32% सरकारी विद्यालयों में नामांकित हैं। संघ राज्य क्षेत्र में शिक्षकों के 3 ग्रेड हैं :

- प्राथमिक स्कूल शिक्षक या प्राइमरी स्कूल टीचर्स (पी.एस.टी.) जो कक्षा 1 से 5 को पढ़ाते हैं। उन्हें 12वीं कक्षा पास और शिक्षक शिक्षा में डिप्लोमा प्राप्त होना चाहिए। उन्हें शिक्षक योग्यता परीक्षा (टी.ई.टी) में भी उत्तीर्ण होना चाहिए।
- प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक या ट्रेन्ड ग्रेजुएट टीचर (टी.जी.टी.) जो माध्यमिक और उच्च विद्यालय के स्तर पर शिक्षण करते हैं। स्नातक की डिग्री और बी.एड. इसके लिए अपेक्षित योग्यताएँ हैं। 40% पद पी.एस.टी. से टी.जी.टी. के रूप में पदोन्नत होने के माध्यम से भरे जाते हैं।
- उच्च माध्यमिक ग्रेड के लिए व्याख्याताओं के लिए स्नातकोत्तर डिग्री और बी.एड. अपेक्षित योग्यताएँ हैं। 80% पद टी.जी.टी. से व्याख्याता के रूप में पदोन्नत होने के माध्यम से भरे जाते हैं।

2. शिक्षकों की तैनाती सम्बन्धी कुछ मुद्दे जो हाल में सामने आए हैं

- **विद्यार्थी नामांकन और शिक्षक तैनाती के बीच बेमेलपन :** समय बीतने के साथ-साथ विद्यार्थी निजी विद्यालयों में जाने लगते हैं, इस कारण सरकारी विद्यालयों के नामांकन में गिरावट आई है। शहरी इलाकों में यह गिरावट अधिक है। किन्तु शहरी विद्यालयों में पदों की संख्या तदनुसार युक्तिसंगत रूप से व्यवस्थित नहीं की गई। इस वजह से ग्रामीण इलाकों में शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात पर असन्तोषजनक प्रभाव पड़ा जबकि अन्य स्थानों में अतिरिक्त शिक्षक थे। कुछ स्थानों पर रिकॉर्ड पुराने होते थे और उनमें शिक्षकों के रिक्त पद सही तरह से नहीं दर्शाए जाते थे। उदाहरण के लिए सेवा निवृत्त/दिवंगत शिक्षकों के नाम उनमें पहले की तरह ही दर्ज रहते।
- **मौखिक आदेश तैनाती के कारण ग्रामीण इलाकों में शिक्षकों की कमी :** शहरी क्षेत्रों और अपने निवास के करीब क्षेत्रों में तैनाती की माँग अधिक होती है, अतः अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं से 'मौखिक आदेश तैनाती' के लिए कई अनुरोध किए जाते हैं - जहाँ शिक्षक को आधिकारिक तौर पर किसी विद्यालय में तैनात किया जाता है, लेकिन वास्तव में वे मौखिक आदेश पर किसी अन्य विद्यालय में कार्य कर रहे होते हैं; इस प्रकार शिक्षक तैनाती की एक समान्तर प्रणाली बन जाती है।
- **शिक्षकों के अभिप्रेरण पर प्रभाव :** शिक्षकों के इस प्रकार के असन्तुलित वितरण और अनौपचारिक व्यवस्था के

कारण कई ग्रामीण विद्यालयों में एक शिक्षक को एक ही समय पर 2-3 कक्षाओं का ध्यान रखना पड़ता था। इतना ही नहीं कुछ ऐसे शिक्षक तब बहुत निरुत्साहित हो जाते थे जब उन्हें तो दूरस्थ इलाकों के विद्यालयों में काम करने के लिए जाना पड़ता था लेकिन उनके कुछ साथी प्रणाली के इन नियमों को अनदेखा करने में कामयाब हो जाते थे।

- **लम्बी छुट्टी :** शिक्षकों को एक साल में आठ दिन की आकस्मिक छुट्टी, दस दिनों की अर्जित छुट्टी और 120 दिनों का मातृत्व अवकाश मिलता है। इसके अतिरिक्त वे अपने सेवाकाल में दो साल की शिशु देखभाल छुट्टी भी ले सकते हैं। हालाँकि ये छुट्टियाँ शिक्षक और उनके परिवार के कल्याण के लिए जरूरी होती हैं, लेकिन जब वे लम्बी छुट्टी ले लेते हैं तो इसका प्रभाव विद्यार्थियों के अधिगम पर पड़ता है क्योंकि वैकल्पिक शिक्षक का कोई व्यवस्थित प्रावधान नहीं है।

3. वर्ष 2015-16 में अपनाई गई शिक्षक स्थानान्तरण की बेहतर प्रक्रिया

- **पदों का युक्ति संगतिकरण :** स्थानान्तरण नीति में निर्धारित मानदण्डों के अनुसार, अध्यापक के पदों का युक्ति संगतिकरण किया गया जो विद्यार्थियों के नवीनतम नामांकन आँकड़ों पर आधारित था। जिन विद्यालयों में नामांकन अधिक किन्तु अपर्याप्त शिक्षक थे, वहाँ अतिरिक्त पदों की स्वीकृति दी गई। इसी तरह जहाँ नामांकन कम हो गया था वहाँ पदों की स्वीकृति कम कर दी गई।
- **रिकॉर्डों का परिशोधन :** शिक्षकों के आँकड़े संचय (डेटाबेस) को परिशोधित किया गया। सेवानिवृत्त/दिवंगत शिक्षकों के नाम हटा दिए गए ताकि रिक्त पदों और उपलब्ध शिक्षकों की सही संख्या का पता लग सके।
- **'शून्य' आधार से शुरू होने वाले पारदर्शी ऑनलाइन काउंसलिंग :** शिक्षकों के स्थानान्तरण के लिए अक्तूबर 2015 से एक पारदर्शी काउंसलिंग पर आधारित ऑनलाइन प्रक्रिया काम में लाई गई। इसमें सभी विद्यालयों को 'शून्य' तैनाती वाली स्थिति पर लाकर एक नए सिरे से तैनाती शुरू की गई ताकि सभी शिक्षकों को अपनी पसन्द का स्थान पाने के उचित अवसर सुनिश्चित किए जा सकें। इसमें शिक्षकों को अपनी वरिष्ठता के क्रम में अपनी पसन्द के विद्यालय का चयन करने के लिए आमंत्रित किया गया। हर दिन के अन्त में 'उपलब्धता' की एक नई सूची बनाई गई जिसे ऑनलाइन अपडेट किया गया। इससे शिक्षकों को काउंसलिंग के लिए आने से पहले अपने पसन्दीदा विद्यालयों की जानकारी पाने में सहूलियत हुई।
- **नई नियुक्तियाँ और बफर शिक्षक :** संशोधित स्थानान्तरण प्रक्रिया के अलावा 429 प्राथमिक शिक्षकों की नियुक्ति की गई ताकि प्रत्येक कक्षा के लिए एक शिक्षक उपलब्ध हो सके। जहाँ कहीं भी शिक्षकों के मातृत्व अवकाश या शिशु देखभाल अवकाश लेने के कारण पद रिक्त होते थे, वहाँ पर शिक्षकों की तैनाती की गई।

विद्यालयों में नियुक्तियों में अधिक पारदर्शिता और निष्पक्षता की भावना का संचार करने के कारण विभाग को शिक्षकों और शिक्षक संघों व संस्थानों से बहुत सकारात्मक प्रतिक्रिया मिली है। पिछले कई सालों में ऐसा पहली बार हुआ कि राजनीतिक नेताओं ने तैनाती की प्रक्रिया पर दबाव डालने के लिए लगभग कोई अनुरोध नहीं किया।

4. भविष्य में इस नीति में लागू किए जाने वाले कुछ अतिरिक्त सुधार

शिक्षक स्थानान्तरण की नई नीति के लिए कुछ अतिरिक्त सुधार पारित किए जा चुके हैं जिन्हें भविष्य में लागू किया जाएगा।

- **संघ शासित प्रदेश का शहरी, अर्ध शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में विभाजन :** शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों के वितरण को उचित रूप से सन्तुलित करने के लिए चारों जिले के विद्यालयों को अलग-अलग क्षेत्रों में बाँटा गया है। उदाहरण के लिए पुदुचेरी जिले के विद्यालय चार क्षेत्रों में बाँटे गए :

  ◆ क्षेत्र A - नगर

  ◆ क्षेत्र B - नगर का बाहरी इलाका

  ◆ क्षेत्र C - ग्रामीण क्षेत्र

  ◆ क्षेत्र D - दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्र

शिक्षकों को अपने सेवाकाल की कम से कम एक तिहाई अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करना होगा। पुदुचेरी जिले में जिन शिक्षकों

की नई भर्ती हुई है उन्हें पहले क्षेत्र D में तैनात किया जाएगा। वहाँ चार साल पूरा करने के बाद उन्हें क्षेत्र C में स्थानान्तरित किया जाएगा और यह क्रम ऐसे ही चलेगा। क्षेत्र A में चार साल की सेवा पूरी होने के बाद उन्हें क्षेत्र D में स्थानान्तरित कर दिया जाएगा और यह सिलसिला जारी रहेगा। इसी तरह पदोन्नति होने पर शिक्षकों को पहले क्षेत्र D में तैनात किया जाएगा और चार की सेवा के बाद क्षेत्र C में स्थानान्तरित किया जाएगा यह क्रम ऐसे ही चलेगा।

इन शिक्षकों के लिए अपवाद का प्रावधान है- जिनका सेवाकाल पूर्ण होने में तीन वर्ष या उससे कम समय बाकी है, भिन्न क्षमता वाले शिक्षक, गम्भीर रूप से बीमार शिक्षक और ऐसी परिस्थितियों में जहाँ स्थानान्तरण योग्य स्थानों में रिक्ति नहीं है।

- स्थानान्तरण चक्र का नियमितीकरण, आपसी स्थानान्तरण की सीमाएँ और कार्यालय आदेश : सभी स्थानान्तरण मई के महीने में किए जाएँगे जिससे कि विद्यालय के कार्य में व्यवधान न पड़े। मौखिक आदेश पर कोई स्थानान्तरण नहीं होगा। परिवीक्षाकाल (प्रोबेशन) में नए भर्ती शिक्षकों को और अन्य शिक्षकों को अपनी सेवा के पहले वर्ष में आपसी स्थानान्तरण की अनुमति नहीं दी जाएगी। पुदुचेरी जिले में केवल क्षेत्र C और D में आपसी स्थानान्तरण की अनुमति दी जाएगी। कोई शिक्षक अपने पूरे सेवाकाल के दौरान अधिकतम दो बार आपसी स्थानान्तरण का अनुरोध कर सकता है।

- स्थानान्तरण के लिए योग्यता मानदण्ड : शिक्षकों को उनके ‘पात्रता अंक’ के क्रमानुसार काउंसलिंग के लिए आमंत्रित किया जाएगा। ये अंक उनके अकादमिक प्रदर्शन, पाठ्य-सहगामी क्रिया सेवा और कार्यकाल पर आधारित हैं। प्रत्येक श्रेणी में मानदण्ड के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं :

कार्य-निष्पादन कसौटी

- कक्षा X और XII में विद्यार्थियों का प्रदर्शन, VI-IX की परीक्षा में कक्षा के औसत अंक
- ड्रॉप-आउट विद्यार्थियों का नामांकन (प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के मामले में)
- राष्ट्रीय प्रतिभा खोज, नवोदय प्रवेश परीक्षा में प्रदर्शन (प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के मामले में)

पाठ्य-सहगामी क्रियाएँ

- राष्ट्रीय कैडेट कोर, राष्ट्रीय सेवा योजना, केन्द्रीय सेवा योजना और राष्ट्रीय ग्रीन कोर जैसी पाठ्य-सहगामी क्रियाएँ
- राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान प्रदर्शनियों और सेमिनारों में शिक्षकों का मार्गदर्शन करना
- शोध पत्रों की प्रस्तुति

कार्यकाल

- सेवा के हर साल के लिए अंक
- अपने क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्रों में सेवाएँ प्रदान करने के लिए अतिरिक्त अंक
- विद्यालय के प्रधानाध्यापकों, तकनीकी और विशेष शिक्षकों के लिए इसी तरह के मानदण्ड तैयार किए गए हैं।

5. जिन कमियों पर अभी भी ध्यान दिया जाना है

- कार्य निष्पादन के उपाय : पात्रता अंक एक प्रारम्भिक कदम है। शिक्षक के कार्य निष्पादन का और अधिक व्यापक रूप से हिसाब रखने के लिए प्रणाली को परिष्कृत करना होगा। विभिन्न विद्यालय विभिन्न स्तर की जिन सामाजिक क्षतियों का सामना कर रहे हैं, उनका हिसाब रखने के लिए निरपेक्ष उपायों की बजाय सापेक्ष उपाय तैयार करने चाहिए।

- माध्यमिक और उच्च विद्यालय के शिक्षकों (टी.जी.टी) का विषय ज्ञान : कार्यकाल के आधार पर प्राथमिक शिक्षकों को माध्यमिक विद्यालयों में पदोन्नत कर देना उचित नहीं है। हो सकता है कि उनका ज्ञान माध्यमिक और उच्च विद्यालय की कक्षाओं को पढ़ाने के लिए पर्याप्त न हो। माध्यमिक/उच्च विद्यालय की कक्षाओं को पढ़ाने के लिए शिक्षकों की पात्रता का परीक्षण होना चाहिए।

- प्राथमिक शिक्षकों के लिए वैकल्पिक विकास का विकल्प : प्राथमिक शिक्षकों के लिए केवल पी.एस.टी. से टी.जी.टी. बनना ही विकास का एकमात्र विकल्प नहीं होना चाहिए। वैकल्पिक विकास के अन्य रास्ते भी उनके सामने होने चाहिए जैसे- विद्यालय नेतृत्वकर्ता/हाई स्कूल शिक्षक की वर्तमान भूमिका के साथ मास्टर टीचर्स, संकुल/खण्ड संसाधक आदि। इससे शिक्षक उन भूमिकाओं को निभा सकेंगे जहाँ उनकी योग्यताओं का बेहतर उपयोग हो सके।

शिक्षक के सामने यह विकल्प भी होना चाहिए कि वह प्राथमिक शिक्षक ही बना रहे बजाय इसके कि किसी ऐसे पद पर जाए जिसके लिए शायद वह उपयुक्त न हो। किसी भूमिका के निर्वाह के साथ समझौता किए बिना उनकी सेवा के वर्षों के साथ उनका वेतन बढ़ाया जा सकता है।

- हाई स्कूल में तैनाती से बचना : इस प्रक्रिया के दौरान कई वरिष्ठ शिक्षकों ने हाई स्कूल में तैनाती से बचने के लिए माध्यमिक विद्यालय में ही बने रहने का विकल्प चुना क्योंकि वे सार्वजनिक परीक्षाओं के दबाव से बचना चाहते थे। चूँकि माध्यमिक विद्यालय तक फेल न करने की नीति है, अतः शिक्षक जवाबदेह नहीं हैं। इससे विद्यार्थियों की हानि होती है। इस मुद्दे को सुलझाने के लिए कार्य निष्पादन के उपायों में और कसाव लाना होगा और उच्च विद्यालयों में न्यूनतम सेवा की अवधि निर्धारित करनी होगी।

नई शिक्षक स्थानान्तरण नीति में प्रक्रिया सम्बन्धी पारदर्शिता अधिक है। उपरिलिखित कुछ उपायों से हम सभी बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सुनिश्चित करने की दिशा में आगे बढ़ने में सक्षम हो सकेंगे।

शिक्षक स्थानान्तरण नीति का पूरा विवरण पाने के लिए पुदुचेरी शिक्षा विभाग की वेबसाइट पर जाएँ। दस्तावेज का लिंक है http://schooledn.puducherry.gov.in/HTML/CircuTenders/ circular2015/TeachTransferPolicy.pdf

आर. पार्थसारथि शिक्षा विभाग, पुदुचेरी सरकार के सेवानिवृत्त संयुक्त निदेशक हैं। उन्होंने प्राणिविज्ञान और शिक्षा में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की है। सम्प्रति वे शिक्षा में 'सक्रिय अधिगम' पर शोध कर रहे हैं। उन्हें 20 साल के शिक्षण और 14 साल का प्रशासनिक अनुभव है। वे छह साल से अधिक समय तक पुदुचेरी में सर्व शिक्षा अभियान के राज्य परियोजना निदेशक के पद पर रहे हैं। शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र में कम्प्यूटर और अनुप्रयोगों का इस्तेमाल करने में उन्हें प्रवीणता हासिल है। पुदुचेरी में काउंसलिंग पर आधारित शिक्षक स्थानान्तरण प्रक्रिया लागू करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनसे parthamanasa@yahoo.co.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल



इसका कोई विकल्प नहीं

ब्रज श्रीवास्तव

6 से 14 वर्ष की आयु प्राकृतिक रूप में सीखने के लिए अद्भुत, अनुकूल और उपयुक्त होती है। इस आयु में सीखे गए पाठ से भविष्य की योजनाएँ, विषय की इमारत की नींव की गुणवत्ता तय हो जाती है। इस आयु में शाला में आया हुआ बच्चा सीखने के लिए लगभग तैयार होता है, इसी आधार पर अनेक शैक्षिक योजनाएँ, जिनमें की सी.सी.ई. भी है, लागू की जाने की सिफारिश की गई है। ये योजनाएँ अभी रस्ते में हैं और अपनी मंजिल तक पहुँचने का ख्वाब देख रही हैं।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009, शिक्षा के क्षेत्र में दूसरे युग की शुरुआत मानी जा सकती है। इसके आलोक में न केवल बच्चे के प्रति सर्वाधिक तवज्जो के साथ समझ बनाने की अपेक्षा की गई है,बल्कि समाज का हर वर्ग इस तरफ ध्यान जरूर दे, ऐसा वातावरण बनाने की भी पहल की गई है। सभ्यता के विकास की यात्रा में जो मुख्य घटक है, वह नजरिए में बदलाव का भी है। हजारों सालों में मनुष्य यह जान पाया है कि मनुष्य या इंसान बनना ही एक मात्र उपलब्धि है, बकौल ग़ालिब -

बस एक दुशवार है हर काम का आसां होना,
आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसान होना।

आदमी से इंसान होने की यात्रा क्या है, इसी यात्रा का नाम है शिक्षा, एजुकेशन या तालीम, कम से कम अपेक्षा तो यही रहती है शिक्षा नामक उपाय से। इसी सफर में एक बच्चा जब शामिल होता है तो वह किताबी ज्ञान से नहीं व्यवहारिक और मानवीय खुद के द्वारा निर्मित ज्ञान से और फिर उसके स्वाभाविक अमल से एक संवेदनशील और जिम्मेदार आदमी बन जाता है जिसे हम इंसान कह सकते हैं।

लेकिन ऐसा लगता है कि हम ऐसे फेर में पड़ गए हैं जिसमें बच्चा इंसान होने कि बजाय एक यंत्र में बदल रहा है, या फिर ऐसे आदमी के रूप में बड़ा हो रहा है जो जीवन को एक कोण से देखकर जीता चला जाता है। हमने उसे इम्तिहानों में बाँध दिया है। इम्तिहानों को और-और पारम्परिक बनाकर उसे मजबूर कर दिया है कि वो किताबों को रट डाले। हम बस परखने के फेर में लगे हैं बिना गुरु बने, बच्चे से अपेक्षा कर रहे हैं कि वह अपना शिष्यत्व दिखाता रहे भूल जाते हैं कि -

परखना मत परखने में कोई अपना नहीं रहता
किसी भी आईने में देर तक चेहरा नहीं रहता।

परखने का ऐसा कोई उपाय जिसमें लक्षित अपना न रहे, खतरनाक हो सकता है। यहाँ अपना शब्द से आशय है भावनाओं से भरा हुआ, या सम्बन्धों को या सहसम्बन्धों को समझने वाला व्यक्ति। मुझे यह कहने में कोई संशय नहीं है कि सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की वर्तमान अनुशंसित प्रयोजना इस उद्देश्य को अपने कलेवर में समेटे हुए है।

सी.सी.ई. को बच्चों के बीच प्रोजेक्ट करने के पहले अधिगम संस्थान सहित शिक्षक को अपनी मान्यताओं को वर्तमान के बदलाव से प्रतिस्थापित करना पड़ेगा। इसके साथ-साथ मोनिटरिंग एजेंसीज को भी सकारात्मकता से इसे न केवल स्वीकारना होगा बल्कि इसको स्थापित करने के लिये कुछ जतन भी करने होंगे। अगर यह होता है तो मुमकिन है कि हमारा समुदाय भी इसे अंगीकार कर ले। स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में इसे इम्प्लीमेंट करते हुए मेरे जो अनुभव हैं उसी आधार पर मैं यह लिख रहा हूँ कि बच्चों के साथ काम करते हुए हर घटक को केवल एक ही सूत्र को अपनाना होगा, वह है, धैर्य और उम्मीद के साथ प्रयास करते जाना।

हम अपनी शालेय दिनचर्या की शुरुआत प्रार्थना सभा से करते हैं। इस प्रार्थना को केवल अध्यात्मिक आनन्द की प्रेक्टिस न माना जाए, न ही इतनी बड़ी उम्मीद पाली जाए, बल्कि यहाँ केवल सामूहिकता का महत्व है, इसके बाद स्वमूल्यांकन को कक्षा में बच्चों द्वारा किया जाना है। यह एक रचनात्मक और मजेदार क्रिया है और की जा सकती है, बशर्ते इसका संचालक तत्पर उत्साही और प्रतिबद्ध हो। बेशक वह एक शिक्षक है, उसके इतना भर करने से बच्चे दिनचर्या का मीनिंग जान जाते हैं। अगर सी.सी.ई. यह बोध करा पाता है तो यह कम बात नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपनी दिनचर्या को सम्भालकर ही जिन्दगी में कामयाब होता है। दरअसल विभिन्न व्यक्तिगत योग्यताओं को अपने में लिए हुए बच्चों के समूह को संचालित करना आसान काम नहीं है,पर यह मुश्किल भी केवल तब है जब संचालक निष्क्रिय या सन्दर्भ रहित हो। सी.सी.ई. यह भी सिखाता है कि एक शिक्षक को कितना सजग होना चाहिए।

आखिर वह एक कक्षा को ड्राइव कर रहा होता है और उस पर बड़ी जवाबदारी है।

6 से 14 के बीच की आयु के बच्चे स्वभाव से चंचल होते हैं, और जब उन जैसे ही कई हों तो फिर आश्चर्य की बात नहीं कि वहाँ शोरगुल न होता हो, पर इस शोरगुल से इतना क्या घबराना। अगर शिक्षक थोड़ा-सा सूझबूझवाला हो तो वो इसका उपयोग कर सकता है कि बच्चे काम की बातें बोलने लगें। ऐसी समझ बनाने के लिए सी.सी.ई. के पास कुछ बातें हैं, प्रोजेक्ट कार्य करना, गतिविधियाँ कराना, रोचक तरीकों से विषयों की प्रकृति के अनुसार पढ़ाना, गृहकार्य जाँचना, टिप्पणी करना, अध्यापन से पहले तैयारी करना, बच्चों को प्रोत्साहित करना आदि।

ऐसे कुछ फार्मूले हैं जो सतत एवं व्यापक मूल्यांकन के आधार हैं जो नए समय की शिक्षा पद्धति की रीढ़ हैं। मुझे लगता है कि ये विकल्प रहित उपाय हैं। जब कभी भी शिक्षा पद्धतियाँ अपने भीतर कुछ ठोस बदलाव का सपना देखेंगीं उन्हें साकार करने के लिए बेशक सतत एवं व्यापक मूल्यांकन का दामन थामना ही पड़ेगा।

ब्रज श्रीवास्तव मध्य प्रदेश के विदिशा के शासकीय माध्यमिक विद्यालय में प्रधानाध्यापक हैं। उन्होंने जिला परियोजना कार्यालय, विदिशा में सर्व शिक्षा अभियान में सहायक परियोजना समन्वयक के रूप में काम किया है। वह राज्य संसाधन समूह के सदस्य रहे हैं। उन्होंने राज्य में सी.सी.ई. पायलट परियोजना और मूल्यांकन नीति के विकास में भी योगदान दिया है। कविता लिखने में उनकी रुचि है। उनकी कविताएँ और लेख कई प्रसिद्ध पत्रिकाओं और समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं, जैसे आउटलुक, इंडिया टुडे, साक्षात्कार, हंस, वागर्थ, वसुधा, जनसत्ता, नव दुनिया, राष्ट्रीय सहारा आदि। उनसे brajshrivastava7@gmail.com सम्पर्क किया जा सकता है।

सतत एवं व्यापक मूल्यांकन के समक्ष उभरती चुनौतियाँ : एक अध्यापक की नजर से

पंकज तिवारी



नोटबन्दी की घोषणा के बाद से हमने देखा था कि भारतीय रिजर्व बैंक लगातार अपने नियमों/निर्देशों में बदलाव करते आ रहा है। कुछ लोग उसके विषय में अपने तरीके से कुछ भी सोच सकते हैं। परन्तु स्कूल में अध्यापक होने के नाते मैं इस बात को भली प्रकार से समझ सकता था कि कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यदि मैं कक्षा में आगे बढ़ता हूँ और कुछ समय पश्चात् मुझे लगता है कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए मुझे मेरे पुराने निर्देशों में कुछ बदलाव की आवश्यकता है तो मैं आवश्यक बदलाव तत्काल ही करता हूँ। साथ ही बच्चों की प्रतिक्रियाओं को देखते हुए लक्ष्य प्राप्ति तक लगातार निर्देशों में आवश्यकतानुसार बदलाव को मेरी कक्षा के बच्चे स्वीकार भी करते हैं। साथी शिक्षकों से बातचीत करते हुए मुझे यह भी लगता है कि उनमें से कुछ एक बार निर्देशों को देने के बाद उनके अक्षरशः पालन पर भी यकीन करते हैं। उनका मानना है कि वे लक्ष्य भी निर्धारित करेंगे और रास्ता भी वे ही बताएँगे, क्योंकि उनके विद्यार्थी जीवन में उन्होंने भी वैसा ही किया है।

साथी शिक्षकों और उनके विद्यार्थियों से बातचीत से एक बात मोटेतौर पर निकलकर आती है कि मेरे आसपास दो तरह के शिक्षक हैं। पहले वे जो पूरा पाठ पढ़ा देने के उपरान्त पाठ के अन्त में दिए गए प्रश्नों को परम्परागत ढंग से याद कराने में अधिक विश्वास रखते हैं। गणित के मामले में ऐसे शिक्षक सीधे ही अभ्यास प्रश्नावलियों पर बच्चों को ले जाते हैं और कुछ सूत्रों को सुबह उठकर रटने की सलाह देते हुए कुछ चुनिन्दा प्रश्नों के हल बोर्ड पर उतार देते हैं। दूसरे प्रकार के शिक्षक वे हैं जो पाठ पर ज्यों-ज्यों चर्चा आगे बढ़ती है कक्षा में नए-नए प्रश्न तैयार करते हुए बच्चों के समक्ष चुनौतियों को रखते जाते हैं। यदि वह चुनौती बच्चों को अधिक ही कठिन लगी तो उस चुनौती के जैसे ही कुछ उदाहरण (जिन्हें हम हिंट भी कह सकते हैं) बच्चों के सामने रखते जाते हैं और बातचीत धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाती है। गणित के मामले में ऐसे शिक्षक दिन-प्रतिदिन की बात से आगे बढ़ते हुए पहले कुछ अत्यन्त ही सरल उदाहरण लेकर बच्चों में आत्मविश्वास जगा देते हैं, फिर चुनौतियों को इस तरह से बच्चों के समक्ष रखते हैं कि लक्ष्य तक पहुँचने के बाद भी बच्चों को यह अहसास नहीं हो पाता है कि वे कब लक्ष्य पा चुके।

स्कूल में बच्चों द्वारा किसी गणितीय अवधारणा पर कार्य करते हुए प्रायः हम देखते हैं कि गणित विषय को पढ़ाने वाले शिक्षक परीक्षा में आने वाले सम्भावित प्रश्नों पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित करते हुए उन चुनिन्दा प्रश्नों को बार-बार लिखकर याद कर लेने की सलाह देते हैं। मध्यप्रदेश में कुछ चुनिन्दा विद्यालयों में सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन को लेकर पायलट प्रोजेक्ट चलाया जा रहा है। इन विद्यालयों के गणित पढ़ाने वाले शिक्षकों से लगातार बात करने के दौरान कुछ बिन्दु निकलकर आए हैं।

इन स्कूलों में गणित की किसी अवधारणा विशेष पर कार्य करने के दौरान बच्चों ने कक्षा में चल रही अवधारणा से सम्बन्धित कई ऐसे उदाहरण लिए जिन्हें गणितीय प्रश्न नहीं कहा जा सकता था। परन्तु वे उदाहरण उस अवधारणा को लेकर उनके मन में चल रही बैचेनी को उजागर कर रहे थे। जैसे एक शिक्षक ने बताया कि उनकी तीसरी कक्षा में एक दिन लम्बाई के मापन को लेकर बच्चों के बीच लम्बी चर्चा हुई थी। अगले दिन उनकी कक्षा में एक नया सीलिंग फैन लगाने के लिए एक इलेक्ट्रीशियन आए हुए थे। वे दीवार पर लगे विद्युत बोर्ड से छत में पंखा लगाने के स्थान तक बायर (बिजली का तार) लगाने वाले थे। बच्चों ने कमरे के फर्श में एक अधिक कोण की रेखाकृति खींचकर उसे स्केल से नापा और इलेक्ट्रीशियन से जब इस पर बात की तो उन्हें पता चला कि नाप करने का उनका तरीका काफी हद तक इलेक्ट्रीशियन को पसन्द आया। बच्चे यह जानकर बहुत ही खुश हुए थे कि उन्हें पंखे से बिजली के बोर्ड को जोड़ने वाले तार की लम्बाई नापने के लिए सीढ़ी की सहायता से दीवार और छत में कोई नाप नहीं करनी पड़ी थी। बच्चों द्वारा किए जा रहे इस कार्य के दौरान उनके शिक्षक लगातार यह देख रहे थे कि कुछ बच्चे कैसे तार की सही नाप के लिए अपने-अपने तरीके बता रहे थे और बाकी के बच्चे उन तरीकों में आने वाली कठिनाइयों पर

चर्चा कर रहे थे। इस कार्य के दौरान कुछ बच्चे फर्श पर चॉक से लाइन खींचते हुए उसे तार मान रहे थे, तो कुछ बच्चे उस लाइन को लकड़ी की स्केल से नापकर, लगने वाले तार की लम्बाई निकाल रहे थे। दो बच्चों के सुझाव थे कि उस लाइन के ऊपर एक सिरे से दूसरे सिरे तक तार रखा जाए। यह बहुत ही मज़ेदार तरीके से एक दिन पहले मापन पर हुई चर्चा पर उपयोगी कार्यकलाप था।

कक्षा का यह घटनाक्रम सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन की कुछ विशेषताओं जैसे वास्तविक सीखने के लिए वातावरण तैयार करना, कक्षा में अर्जित विषयगत ज्ञान को दैनिक जीवन में परिस्थितियाँ आने पर उपयोग कर पाने की क्षमता का आकलन तथा स्कूल में प्राप्त की गई शिक्षा का स्वयं और साथियों के साथ मजा लेते हुए उस अवधारणा पर अपनी समझ को विकसित करने का एक अच्छा उदाहरण है।

इस दौरान शिक्षक लगातार यह देख रहे थे कि वे मापन सम्बन्धी अपनी कक्षा में पढ़ाने के स्वरूप में किस तरीके से और सकारात्मक परिवर्तन कर सकते हैं। परम्परागत तरीकों से आकलन करने के दौरान हम प्रायः देखते हैं कि मासिक टेस्ट में कुछ चुनिन्दा प्रश्नों के उत्तर के आधार पर बच्चों को इस तरह से अंक दे दिए जाते हैं जैसे एक दीवार के सहारे लगी सीढ़ी के प्रत्येक पायदान पर प्राप्त अंकों के आधार पर बच्चों को बैठा दिया गया हो। ग्रेड सिस्टम वाले आकलन के पैमाने में प्रत्येक पायदान पर एक बच्चा तो नहीं बैठा होता है, परन्तु बच्चों को घरों की सीढ़ियों जैसी किसी सीढ़ी में हम बैठा मान सकते हैं। जैसे किसी सीढ़ी पर 2-4 बच्चे बैठे हों, शेष बच्चे उनसे ऊपर की या नीचे की सीढ़ियों में अपने कुछ साथियों के साथ बैठे हों। सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन के दौरान हम इन बच्चों को ऐसे देखते हैं कि सभी बच्चे जमीन में अलग-अलग स्थान पर खड़े हैं और किसी फुटबाल के मैदान में खेल रहें खिलाड़ी के समान अपना स्थान लगातार बदल रहे हैं। स्थान बदलने की इस प्रक्रिया के दौरान कोई बच्चा कभी आगे होता है तो कभी पीछे होता है, परन्तु सभी बच्चे जिस काम को कर रहे होते हैं, उस काम में आनन्द लेते हुए अपनी समझ को लगातार बढ़ाते रहते हैं। इसमें किसी प्रकार का रटना-रटाना, भयमुक्त वातावरण न होकर आनन्ददायी माहौल में समझ को मजबूत करना शामिल होता है। विश्व के लगभग सभी विकसित देशों में सी. सी. ई. को बच्चों के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास हेतु सबसे बेहतरीन पैटर्न माना जाता है। इसमें बच्चे से सिर्फ पाठयपुस्तक पर ही पूरा जोर लगाने की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व विकास के सभी पहलुओं के आकलन पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। इसमें शिक्षकों को बहुत ही सूक्ष्मता से कार्य करने की आवश्यकता होती है। इस कार्य के शिक्षकों को पूर्वाग्रहों से मुक्त कराने तथा सकारात्मक सोच, बच्चों के प्रति समर्पण भाव एवं अध्यापन में रुचि रखने वाले प्रोफ़ेशनल्स की आवश्यकता है।

वर्तमान में भले ही सी.सी.ई. पर काफी जोर दिया जा रहा हो परन्तु इसे धरातल पर उतारने वाले शिक्षकों की मानसिकता इस पैटर्न को सरलता से स्वीकार करने की दिखाई नहीं दे रही है। इसमें जितनी कमी शिक्षकों की वचनबद्धता को लेकर है उससे कहीं ज्यादा कमी तो ऐसे शिक्षकों को समुचित प्रशिक्षण न दे पाने को लेकर विभाग की भी है जिन्होंने सी.सी.ई. जैसे शानदार पैटर्न को लेकर आने के बाद शिक्षक को अकेला ही छोड़ दिया है। मेरा मानना है कि भौतिक परिवर्तन तुरन्त ही दिखाई देते हैं, परन्तु अभौतिक या मन परिवर्तन एक लम्बे समय पश्चात् महसूस की जाने वाली प्रक्रिया है। जैसे हम नए स्मार्ट फोन को लेकर खुद को आधुनिक दिखाते हैं परन्तु किसी शुभ कार्य के लिए घर से निकलते समय यदि बिल्ली रास्ता काट दे तो मन ही मन कई विचार आने लगते हैं और हम वहीं रुक जाना ही उचित समझते हैं। ठीक इसी तरह से शिक्षकों को सी.सी.ई. के मॉड्यूल थमाकर उनसे दो-चार बार बातचीत करके यह मान किया गया कि अब वे सब कुछ ठीक-ठाक कर लेंगे और शिक्षक भी खुद को आधुनिक मान बैठे। परन्तु लागू करने वाले ज्यादातर लोग स्वयं को अभौतिक (मानसिक) रूप से इस हेतु तैयार नहीं कर पाए हैं। इसके लिए हमें शिक्षकों को मानसिक रूप से पहले तैयार करते हुए रटाने की अपेक्षा लर्निंग पर जोर देने हेतु तैयार करना पड़ेगा और इसके लिए नीति बनाने वाले विभाग से लेकर, लागू करने वाले कार्यालयों, शिक्षकों को अकादमिक समर्थन देने वाली संस्थानों को भी पहले लर्निंग फर्स्ट के लिए तैयार करना होगा।

हमारे सतत एवं व्यापक मूल्यांकन विद्यालयों के शिक्षकों से

लगातार बातचीत के बाद कुछ कठिनाइयाँ भी सामने आई हैं जिन पर बातचीत करना बहुत ही जरूरी जान पड़ता है। जैसे - सतत एवं व्यापक आकलन की समझ पर्याप्त नहीं होने के कारण विद्यालयों में आने वाले आगंतुक या बाहरी निरीक्षणकर्ता ऐसे कमेन्ट्स कर देते हैं जो उस कक्षा के शिक्षक को लगातार परेशान करते हैं। बच्चों के साथ समूह में बैठाकर, बातचीत करते हुए शिक्षक को या ब्लैकबोर्ड में लिखते हुए बच्चों को देखकर आगंतुक महानुभाव, शिक्षक पर लापरवाह होने का आरोप तक लगा देते हैं और उनके द्वारा निरीक्षण रजिस्टर पर लिखी गई नकारात्मक टिप्पणियाँ अगले निरीक्षणकर्ता के लिए आधार बन जाती हैं। इनमें से जो निरीक्षणकर्ता थोड़े उदार होते हैं वे भी सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की पर्याप्त समझ नहीं होने के कारण परम्परागत अध्यापन के तरीकों के अनुरूप ही सुझाव देते हुए बाहरी आकलन को ही अधिक महत्वपूर्ण दर्जा देने का प्रयास करते हैं।

पंकज तिवारी मध्य प्रदेश के सिवनी के शासकीय उर्दू हायर सेकेंडरी स्कूल में गणित के शिक्षक हैं। वह पिछले दो दशकों से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। पंकज राज्य शिक्षा केंद्र (एस.सी.ई.आर.टी.) मध्य प्रदेश से जुड़े हुए हैं, जहाँ वह पाठ्यपुस्तक, प्रशिक्षण मॉड्यूल, मूल्यांकन प्रणाली, गतिविधि-आधारित सीखने और शिक्षण सामग्री के सम्पादन में योगदान देते हैं। मध्यप्रदेश सरकार का राज्य स्तरीय शिक्षक सम्मान "आचार्य सम्मान" उन्हें दिया गया है। पंकज, राज्य संसाधन समूह के प्रमुख सदस्यों में से एक हैं और गणित के शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण मॉड्यूल और अल्पकालिक पाठ्यक्रम विकसित करने के लिए NCERT के साथ एक विषय विशेषज्ञ के रूप में जाने जाते हैं। उन्हें गणित करने में आनन्द आता है, वे मेट्रिक मेला का आयोजन करते हैं। बच्चों के साथ काम करना और फुटबॉल खेलना उन्हें पसन्द है। पंकज राज्य स्तर के फुटबॉल रेफरी हैं और राष्ट्रीय स्तर के जिम्नास्टिक खिलाड़ी। उनसे ptiwari740@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

मध्याह्न भोजन योजना

मध्याह्न भोजन योजना या मिड डे मील स्कीम (एम.डी.एम.एस.) एक ऐसी पहल है जो पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक आयु समूहों के बच्चों में पोषण की कमी को दूर करने के उद्देश्य से शुरू की गई। इसे 'नामांकन बढ़ाने, प्रतिधारण (retention) और उपस्थिति को सकारात्मक रूप से प्रभावित करने तथा इसके साथ-साथ बच्चों के पोषाहार स्तर में सुधार पर ध्यान देने' के लिए शुरू किया गया था (मानव संसाधन विकास मंत्रालय वेबसाइट)। वर्ष 2001 में एम.डी.एम.एस. पका हुआ मध्याह्न भोजन योजना बन गई जिसके तहत 'प्रत्येक सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक स्कूल के प्रत्येक बच्चे को प्रतिदिन 8-12 ग्राम प्रोटीन और ऊर्जा के न्यूनतम 300 कैलोरी अंश के साथ मध्याह्न भोजन दिया जा रहा था (मानव संसाधन विकास मंत्रालय वेबसाइट)। जुलाई 2006 में इसे बढ़ाकर 450 कैलोरी और 12 ग्राम प्रोटीन कर दिया गया।

लर्निंग कर्व के साथ बातचीत में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के श्री एल. रामनाथ ने इस बात का संक्षिप्त विवरण दिया कि एम.डी.एम. कार्यक्रम को दुर्घटना प्रूफ बनाने के लिए कर्नाटक सरकार ने कौन-से कदम उठाए हैं। कर्नाटक सरकार इस कार्य में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ साझेदारी कर रही है।

राज्य सरकारों को चावल और गेहूँ जैसे अनाज भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India) द्वारा सब्सिडाइज दरों पर मुहैया कराया जाता है। दिए गए अनाज के अनुपूरक के रूप में निर्धारित मात्रा में दाल, सब्जियाँ, तेल और नमक दिया जाता है। इसके पीछे भावना यह है कि बच्चों को अच्छा सन्तुलित भोजन दिया जाए। कभी-कभी सरकार के अलावा स्थानीय पंचायत और किसान भी मध्याह्न भोजन के लिए खाद्य सामग्री देते हैं।

यह पूरी योजना अच्छी तरह से संरचित है। प्रत्येक स्कूल में एक मुख्य रसोइया है और अगर बच्चों की संख्या अधिक हो तो एक सहायक रसोइया भी होता है। प्रधानाध्यापक प्रभारी सरकारी अधिकारी को माँगपत्र या इन्डेंट देते हैं और फिर वे आवश्यक सामग्री मुहैया कराते हैं जिसमें विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर सूक्ष्म पोषक तत्व जैसे आयरन और विटामिन भी दिए जाते हैं। एम.डी.एम. परियोजना को संयुक्त निदेशक, एम.डी.एम. द्वारा चलाया जाता है जिसमें उनके साथ लोक शिक्षण के उप-निदेशक (Assistant Director of Public Instruction) की टीम भी होती है। सभी शैक्षिक कार्यकर्ता इस पहल का समर्थन करते हैं।

एम.डी.एम. के तीन पहलू हैं-सुरक्षा, पोषण और स्वाद। सरकार मानदण्ड निर्धारित करती है और पोषण वाले पहलू का ध्यान रखती है। अब सरकार सुरक्षा वाले पहलू पर ध्यान दे रही है। दुर्घटनाओं के बारे में हम अक्सर सुनते हैं। अगर स्वच्छता का ध्यान न रखा जाए तो भोजन के प्रदूषित होने के कारण आपातकालीन स्थिति पैदा हो सकती है।

वाकई यह एक बहुत बड़ा काम है। सिर्फ कर्नाटक के स्कूलों के रसोईघरों की संख्या ही 48,000 है। अप्रिय घटनाओं की संख्या कम करनी हो तो उसके लिए बहुविध तरीके अपनाने होंगे। इसलिए बीस स्कूलों के साथ एक निदानात्मक अध्ययन किया गया ताकि यह पता चल सके कि जमीनी स्तर पर वस्तुस्थिति क्या है। जिन क्षेत्रों में हमें कमियाँ नजर आईं वे थीं- ऐसी वस्तुएँ जिन्हें उपयोग किए जाने की अवधि खत्म हो गई थी, खाना पकाने और न पकाई जाने वाली

चीज़ों को साथ में रखना, रसोईघर में सफाई न होना, किसी बड़े बर्तन से सीधे ही भोजन परोसना आदि। फिर कर्नाटक सरकार और अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की संयुक्त टीम ने मानकीकृत सुरक्षा और बड़ी चौकसी के साथ स्वच्छता के नियमों का पालन करने पर जोर दिया। खाना पकाना और उसे परोसना- इन दो क्षेत्रों की सुरक्षा को विशेष महत्व दिया गया क्योंकि इनमें दुर्घटनाएँ होने की सम्भावना अधिक है।

इनकी रोक-थाम करने के लिए कुछ मानक परिचालन प्रक्रियाएँ (Stendard operating proceduers (SOP)) तैयार की गईं। इनमें भूमिकाओं और जिम्मेदारियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया था। विशिष्ट भूमिकाओं द्वारा एस.ओ.पी. की निगरानी के लिए चेकलिस्ट बनाई गई। रसोइयों और अन्य कार्यकर्ताओं के लिए पोस्टर (तस्वीरें अधिक, शब्द कम) बनाए गए। इसके अलावा सुरक्षा प्रक्रियाओं पर 13 मिनट की एक फिल्म बनाई गई जिसका प्रयोग प्रशिक्षण के दौरान संसाधन के रूप में किया जाता है।

स्वच्छता की कमी दूसरी आम समस्या है - इस पर भी ध्यान दिया गया है। खाना पकाने, सफाई, भण्डारण आदि के सभी पहलुओं की जाँच की गई।

भण्डारण में फर्स्ट इन फर्स्ट आउट (FIFO) या फर्स्ट एक्स्पाइरी फर्स्ट आउट (FEFO) की प्रक्रिया निर्धारित की गई। यानी जो पहले खरीदा गया है या जिसके उपयोग करने की अवधि पहले समाप्त होने वाली हो, उसका उपयोग पहले हो। एक प्रोटोकोल स्थापित किया गया जैसे कि किसी बर्तन का उपयोग करने के पहले उसमें पानी उबालना। दूध का जो पाउडर बड़े-बड़े पैकेटों में आता है, उस पैकेट को खोलने के बाद उसे वायुरोधी डिब्बों में रखना ताकि उसमें फफूंद न लगे। एम.डी.एम. की प्रक्रिया में कुछ कदम और उठाए गए हैं जैसे कि महीने में एक बार रसोईघर की पूरी तरह से सफाई की जाती है, शेल्फों को खाली करके उन्हें साफ किया जाता है और फिर उनमें सामग्री को पुराने से नए क्रम में रखा जाता है यानी वह सामग्री पहले रखी जाती है जिसे पहले उपयोग में लाना है और नई सामग्री को बाद में रखा जाता है; खाना दस्ताने और टोपी पहनकर पकाया जाता है; गुणवत्ता बनाए रखने के लिए पकाए हुए भोजन के नमूने का संग्रह करके उसे विसंक्रमित डिब्बे में रखकर परीक्षण प्रयोगशाला में भेजा जाता है।

इन सभी प्रक्रियाओं में स्कूल के प्रधानाध्यापक, जिनकी सहायता के लिए एक नोडल शिक्षक भी होते हैं, को यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी दी जाती है कि सारी प्रक्रियाओं का अनुपालन किया जा रहा है। एम.डी.एम. दल के अधिकारी यह सुनिश्चित करने में सहायता करेंगे कि कर्नाटक के स्कूलों की हर रसोई में इन बातों का 100 प्रतिशत अनुपालन हो और दुर्घटनाओं का प्रतिशत शून्य हो।

मंड्या और कोलार जिलों में इस रोल आउट का अध्ययन किया जा रहा है, उसके बाद कर्नाटक सरकार इसे राज्य के अन्य जिलों में लागू करने का निर्णय लेगी।

अनुवाद : नलिनी रावल

अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी लर्निंग कर्व के पुराने अंक **http://teachersofindia.org/hi/periodicals/learning-curve** या **http://www.azimpremjifoundation.org/foundation_Publication** या **http://azimpremjiuniversity.edu.in/Site Pages/resources-learing-curve.aspx** से डाउनलोड किए जा सकते हैं।

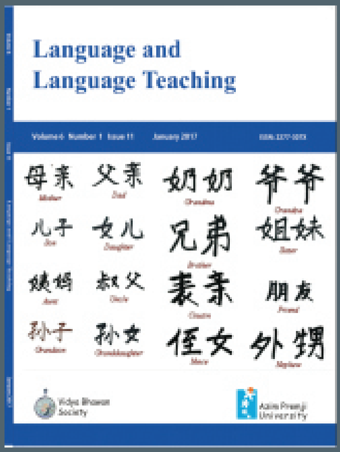
अपने सुझाव,टिप्पणियाँ, मत और अनुभव हमें इस ईमेल पते पर भेज सकते हैं :
learningcurve@apu.edu.in

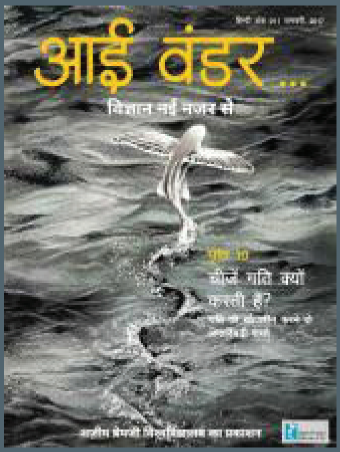
मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए
आदर्श प्रा.लि.,4 शिखरवार्ता, प्रेस काम्पलेक्स,
जोन-1, एम.पी.नगर, भोपाल पिन 462 011 से मुद्रित

एवं अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय,पिक्सल पार्क बी ब्लाक, पी.ई.एस. कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग कैम्पस, इलेक्ट्रॉनिक सिटी, बेंगलूरु 560 100 से प्रकाशित, सम्पादक : प्रेमा रघुनाथ

Azim Premji University

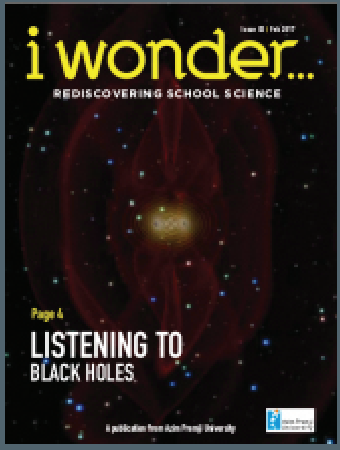
अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

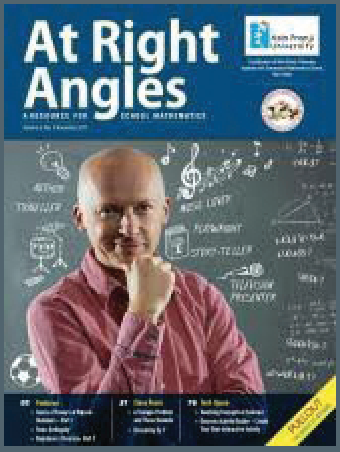












अगला अंक

कक्षा-कक्ष के अनुभव भाग 1

Azim Premji University
Pixel Park, PES Campus, Electronic City, Hosur Road
Bengaluru - 560100

080-6614 5136
www.azimpremjiuniversity.edu.in

Facebook: /azimpremjiuniversity
Instagram: @azimpremjiuniv
Twitter: @azimpremjiuniv